

मंजिल के पड़ाव

शुक्लचार्य महाप्रज्ञ



विवेक सोता भी है, जागता भी है। प्रस्तुत पुस्तक में विवेक जागरण के कुछ सूत्र हैं, मंत्र हैं, प्रयोग हैं और पद्धतियाँ हैं। 'घड़ा जहर का और ढक्कन अमृत का' यह बाह्य जगत् और अर्न्तजगत् का यथार्थ चित्रण है। भीतर का दिखाई नहीं देता, बाहर का दिखाई देता है, इसीलिए मनुष्य रक्त को इतना मूल्य नहीं देता, जितना चमड़ी को देता है। जीवन को उतना महत्व नहीं देता, जितना जीविका को देता है। अमन को उतना मूल्य नहीं देता, जितना मन को देता है। मन के अमन बन जाने पर घड़ा भी अमृत का और ढक्कन भी अमृत का। मन को साधने के लिए बहुत जानना जरूरी है, उससे भी अधिक जरूरी है अमन को साधने के लिए। नौका नदी में ही रहेगी तट पर नहीं जाएगी पर तट तक जाने के लिए जरूरी है नौका। मन जरूरी है अमन तक पहुँचने के लिए। वही नौका तट तक ले जाती है, जो निश्छिद्र हो। वही मन अमन तक ले जा सकता है, जिसमें छेद न हो। यह निश्छिद्रता की साधना परम तत्व है। उसके लिए पाथेय बन सकती है, यह पुस्तक।

मंजिल के पड़ाव

[स्थानांग एवं दशवैकालिक सूत्र पर आधारित प्रवचन]

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रज्ञापर्व प्रवचनमाला-८

संदर्भ : योगक्षेम वर्ष

सान्निध्य एवं प्रेरणा
आचार्य तुलसी

प्रवचनकार
युवाचार्य महाप्रज्ञ

मुख्य संपादक
मुनि दुलहराज

संपादक
मुनि धनंजयकुमार

अर्थ सौजन्य : स्व० पूज्य दादाजी श्री जयचन्दलालजी एवं पिताश्री
चम्पालाल जी बोरह की पुण्य स्मृति में—सहसकरण
बोरह (दिल्ली-लाडन)

© जैन विश्व भारती
लाडनू-३४१३०६।

संकलन सौजन्य : प्रज्ञापर्व समारोह समिति

प्रथम संस्करण : अक्टूबर, १९६२

मूल्य : पच्चीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू, नागौर (राज०)/
मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के अर्थ सौजन्य से स्थापित जैन विश्व भारती
प्रेस, लाडनू-३४१ ३०६।

MANJIL KE PADAV
Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 25.00

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर । प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान् लक्ष्य । लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन—प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग । प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण । अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा । समस्या एक ही थी—प्रशिक्षु व्यक्तियों के विभिन्न स्तर । एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क, ख, ग नहीं जानने वाले दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के जिज्ञासु । दोनों प्रकार के श्रोताओं को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था । चिंतन यहीं आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली में कैसी सामग्री परोसी जाए ? नए तथ्यों को नई रोशनी में देखने की जितनी प्रासंगिकता होती है, परम्परित मूल्यों की नए परिवेश में प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक है ।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय 'देहली दीपक न्याय' और 'डमरुक मणि न्याय' के बारे में पढ़ा था । देहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है । डमरु का एक ही मनका उसे दोनों ओर से बजा देता है । इसी प्रकार ववतृत्व कला में कुशल वाग्मी अपनी प्रवचनधाराओं से जनसाधारण और विद्वान्—दोनों को अभिस्नात कर सकते हैं, यदि उनमें पूरी ग्रहणशीलता हो ।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है—प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल है और न जटिल है । जिसमें उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नहीं है और प्राथमिक ज्ञान का अभाव नहीं है । जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है । इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को ।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है । जैन भागमों के आधार पर समायोजित यह प्रवचनमाला वैज्ञानिक व्याख्या के कारण सहज गम्य और आकर्षक बन गई है । इसमें शाश्वत और सामयिक सत्यों का अद्भुत समावेश है । इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान में रखकर प्रज्ञापर्व समारोह समिति ने महाप्रज्ञ के प्रवचनों को जनार्पित करने का संकल्प संजोया । 'मंजिल के पड़ाव' उसका आठवां पुष्प है ।

छह

जिन लोगों ने प्रवचन सुने हैं और जिन्होंने नहीं सुने हैं, उन सबको योगक्षेम यात्रा का यह पाथेय मंजिल की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और उनकी चेतना के बन्द द्वारों को खोलकर प्रकाश से भर देगा, ऐसा विश्वास है ।

२५ अक्टूबर १९९२

प्रज्ञालोक

जैन विश्व भारती

लाडनूँ

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

सब सापेक्ष हैं। परिपूर्ण अस्तित्व ही हो सकता है। व्यक्तित्व अस्तित्व का बाह्य आवरण है। उसमें परिपूर्णता का दर्शन संभव नहीं है किन्तु अपूर्णता इतनी न हो कि अस्तित्व छिप जाए। पर्वत राई की ओट में छिप न जाए, यह जीवन-सत्य है। आदमी सत्य को झुटलाकर न चले इसलिए जरूरी है स्वाध्याय, जरूरी है चिन्तन, मनन और निदिध्यासन। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के शब्दोच्चार में जितना रस है उतना उसकी साधना में नहीं है। अनेक सत्यवाद और अनेक मिथ्यावाद मनुष्य की परछाई के साथ-साथ चलते हैं। मनुष्य किसको कितना प्रथय दे, यह उसके विवेक पर निर्भर है।

विवेक सोता भी है, जागता भी है। प्रस्तुत पुस्तक 'मंजिल के पड़ाव' में विवेक-जागरण के कुछ सूत्र हैं, मंत्र हैं, प्रयोग और पद्धतियां हैं। 'घड़ा बहर का और ढक्कन अमृत का' यह बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का यथार्थ चित्रण है। भीतर का दिखाई नहीं देता, बाहर का दिखाई देता है, इसीलिए मनुष्य रक्त को उतना मूल्य नहीं देता, जितना चमड़ी को देता है। जीवन को उतना महत्त्व नहीं देता, जितना जीविका को देता है। अमन को उतना मूल्य नहीं देता, जितना मन को देता है। मन के अमन बन जाने पर घड़ा भी अमृत का और ढक्कन भी अमृत का। मन को साधने के लिए बहुत ध्यानना जरूरी है, उससे भी अधिक जरूरी है अमन को साधने के लिए। नौका नदी में ही रहेगी, तट पर नहीं जाएगी, पर तट तक जाने के लिए जरूरी है नौका। मन जरूरी है अमन तक पहुंचने के लिए। वही नौका तट तक ले जाती है, जो निश्छिद्र हो। वही मन अमन तक ले जा सकता है, जिसमें छेद न हो। यह निश्छिद्रता की साधना परम तत्त्व है। उसके लिए पाथेय बन सकती है यह पुस्तक।

आचार्यवर की सन्निधि मेरे लिए एक सहज प्रेरणा है। उनकी उपस्थिति में जो स्रोत प्रवाहित होता है, वह अन्यत्र प्रवाहित नहीं होता। प्रवचन के समय ऐसा प्रतीत होता है कि मैं नहीं बोलता कोई आंतरिक प्रेरणा बोलती है। मुनि दुलहराजजी प्रारम्भ से ही साहित्य संपादन में लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजय कुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

२५/१०/९२

दीपावली
जैन विश्व भारती
लाडनू (राज०)

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

- स्वतंत्र है व्यक्ति
इच्छा और संकल्पशक्ति
इसीलिए कर सकता है वह
अपने लक्ष्य का निर्धारण
अपनी मंजिल का अवधारण
अपनी हंस-मनीषा से
चुनता है उसका पथ
तीव्र अभीप्सा से
करता है अभिक्रम ।
- समस्या यह है—
एक नहीं है पथ
क्या सत्पथ ? क्या उत्पथ ?
किसे चुने, किसे छोड़े
जीवन दिशा किधर मोड़े
जीए संसार का जीवन
या खोले उससे मुक्त वातायन
एक है भोग की दिशा
दूसरी है त्याग की दिशा
एक है संसार-सम्मुख
दूसरी है संसार-विमुख ।
- अध्यात्म की मंजिल है मुक्ति
संसार की मंजिल है भुक्ति
जहां मुक्ति है वहां शांति है
जहां भुक्ति है वहां अशांति है
मुक्ति श्रेय है
इसीलिए वही प्रेय है
भुक्ति अश्रेय है
इसीलिए वह हेय है ।

- महाप्रज्ञ कहते हैं
समस्या वहीं है, जहां भोग है
कल्पित मिथ्या संयोग-वियोग है
जिसने जीया है संबन्धातीत जीवन
पाया है उसने नया चिन्तन
न समस्या है न विचलन
समाहित उसकी हर उलभन।
- पथ वह नहीं है—
जो उलभाए
पथ वह है
जो उलभी जटा मुलभाए
- यह स्पष्ट है
जहां जीवन है
वहां उलभन है
दुःख शय्या भी है
सुख शय्या भी है
उपजता है चिन्तन
क्यों आते हैं ये क्षण
क्यों होता है रोग
क्यों होता है शोक
आता है बुढ़ापा
अंतः बाह्य मुटापा
क्यों होती है असमय मौत
व्यक्ति मर जाता है बेमौत
क्यों सताता है पाप
कितना देता है संताप।
- चाहता है सुख
मिलता है दुःख
जीवन के हर पड़ाव पर
कर्म बंधता है निरन्तर
कैसे मिलेगी मुक्ति ?
कब मिलेगी मुक्ति ?
टूटेंगे बंधन
खिलेगा जीवन उपवन
बाधाएं सब अनचाहीं
मिले मंजिल मनचाहीं।

- प्रस्तुत पुस्तक 'मंजिल के पड़ाव'
चंचल मन को देगी ठहराव
आगम आधारित प्रवचन
महाप्रज्ञ का अभिनव सृजन
अवतरित है शाश्वत सत्य
युगभाषा में अनुपम तथ्य
इसमें विश्लेषित है मंजिल
छुएगी पाठक का दिल
संकेत है पड़ावों का
समाधान है बाधाओं का ।
- हम पढ़ें 'मंजिल के पड़ाव'
होगा नया प्रयाण
मंजिल का बोध
आत्मा की शोध
यही चाहते हैं महाप्रज्ञ
बनें हम अपने विशेषज्ञ ।

दीपावली
२५-१०-९२
जैन विश्व भारती
लाडनू (राज०)

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

| | |
|--|-----|
| १. समस्या के दो छोर | १ |
| २. श्रवण और मनन | ४ |
| ३. धर्म के दो प्रकार | ७ |
| ४. न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति | १० |
| ५. आत्मरक्षा एक अहिंसक की | १४ |
| ६. अनुशासन की त्रिपदी | १९ |
| ७. तीन मनोरथ | २४ |
| ८. तीन चक्षु | २८ |
| ९. कितना विशाल है कषाय का जगत् | ३२ |
| १०. चार गतियां : आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण | ३७ |
| ११. उदय और अस्त | ४३ |
| १२. पराक्रम की पराकाष्ठा | ४८ |
| १३. वे भी श्रावक हैं | ५२ |
| १४. शय्या जागने के लिए | ५७ |
| १५. ज्यू धर्म ज्यू लाल | ७१ |
| १६. मौलिक मनोवृत्तियां | ६५ |
| १७. घड़ा जहर का ढक्कन अमृत का | ७१ |
| १८. कैसे होता है गुणों का विकास ? | ७७ |
| १९. महानिर्जरा महापर्यवसान | ८२ |
| २०. क्रियावाद | ८७ |
| २१. व्यवस्था का अभाव : विग्रह का जन्म | ९२ |
| २२. बोधि-दुर्लभता | ९५ |
| २३. सूत्रों का वाचन और शिक्षण | १०१ |
| २४. आचार्य पद की अर्हता | १०५ |
| २५. कलियुग के सात लक्षण | १११ |
| २६. अकाल मृत्यु के सात कारण | ११७ |
| २७. गणि-सम्पदा | १२२ |
| २८. संघ विकास के लिए सतत जागरूकता | १२६ |
| २९. रोगोत्पत्ति के नौ कारण | १३१ |
| ३०. सत्य के दस प्रकार | १३६ |

चौदह

| | |
|----------------------------------|-----|
| ३१. सुख के दस प्रकार | १४२ |
| ३२. कल्याणकारी भविष्य का निर्माण | १४७ |
| आधार : दशर्षकालिक | |
| ३३. कैसे करें क्रियाएं जीवन की ? | १५५ |
| ३४. सद्गति उसके हाथ में है | १६० |
| ३५. पाप उससे डरता | १६५ |
| ३६. ज्ञान बड़ा या आचार ? | १७१ |
| ३७. काले कालं समायरे | १७४ |
| ३८. भाषा-विवेक के छह सूत्र | १७८ |
| ३९. सब कुछ कहा नहीं जाता | १८३ |
| ४०. देहे दुक्खं महाफलं | १८६ |
| ४१. इंद्रिय-संयम | १९० |
| ४२. श्रद्धा घनीभूत कैसे रहे ? | १९४ |

आधार :
स्थानांग

समस्या के दो छोर

आकाश में अनगिन तारे हैं। एक व्यक्ति ने सोचा—मैं तारों को गिन लूँ। क्या यह संभव होगा? समुद्र में इतनी लहरें हैं। क्या उन्हें गिना जा सकता है? इससे भी ज्यादा कठिन है आदमी की समस्याओं को गिनना। समस्याएं ही समस्याएं हैं। समस्याओं का कहीं भी ओर छोर नहीं है। यदि पूरे समाज की समस्याओं को जोड़ दिया जाए तो न जाने कितनी समस्याएं हो जाएं। उन सारी समस्याओं को वर्गीकृत रूप दिया गया तब वे सिमट कर मात्र दो समस्याओं में समाहित हो गईं। (भगवान महावीर ने संक्षेप में कहा—समस्याएं केवल दो हैं^१—आरम्भ और परिग्रह—आरंभे चव परिग्रहे चव। हिंसा और परिग्रह—ये दो ही समस्याएं हैं।)

मर्म की बात

समस्या का एक छोर है हिंसा, दूसरा छोर है परिग्रह। इन दो समस्याओं को समाहित किए बिना कोई भी मनुष्य केवली प्ररूपित धर्म को सुन नहीं सकता। आजकल सुनने के बहुत साधन हैं, पर बात बहुत मर्म की है। हमारी एक स्थिति होती है—कान खुला है पर सुनाई नहीं देगा। दूसरी स्थिति होती है—कान खुला है, हमने सुना भी है पर समझा नहीं। जब तक इन दोनों स्थितियों को पार नहीं करेंगे तब तक सुनने की बात पूरी नहीं होगी। बहुत बार ऐसा होता है—शब्द के पुद्गल कान में पड़ रहे हैं, पर हम सुन नहीं पा रहे हैं। सुनने के साथ हमारी समनस्कता का होना भी जरूरी है, मन का जुड़ना भी जरूरी है। श्रवण और अर्थ-बोध एक विशेष मानसिकता की स्थिति में ही होता है। जो व्यक्ति हिंसा और परिग्रह की लालसा में उलझा हुआ है, वह अहिंसा और अपरिग्रह के धर्म को सुनता तो है, पर उसे वह सुनाई नहीं देगा।

कितने हैं धार्मिक

हम संसार की स्थिति का विश्लेषण करें। विश्व में धर्म की बात सुनने वाले लोग कितने हैं! पांच अरब में पचास लाख से ज्यादा तो हैं ही नहीं। आज सारे संसार में इतने चर्च हैं, इतनी मस्जिदें हैं, इतने मंदिर और

धर्म-स्थान हैं, जिनकी कोई सीमा-रेखा नहीं है। जिन देशों में धर्म को एक अफीम माना गया था, उन देशों में भी नये नये चर्च, मस्जिदें और धर्मस्थान बने हैं। किन्तु चिंतन के बाद यही स्वर उभरता है—धर्म नहीं सुना जा रहा है। यदि कोई मापक यंत्र है तो पता लग जाएगा—धर्मस्थान में जाने वाले पिचियानवें प्रतिशत लोग मात्र परिग्रह पाने की कामना लेकर ही जाते हैं। बिना कामना जाने वाले पांच प्रतिशत भी मुश्किल से मिलेंगे। चाह को लेकर धर्मस्थानों में जाने वालों की भरमार है पर चाह को छोड़कर जाने वालों की संख्या कितनी है? हम स्वयं सोचें—अपरिग्रह और आत्म-शुद्धि के लिए धर्म सुनने वालों की संख्या कितनी है और कामनापूर्ति के लिए धर्म करने वालों की संख्या कितनी है? आज सबसे विकट समस्या है—त्याग की चेतना का न जागना। लोभ, लालच, परिग्रह के सीमाकरण की भावना त्याग के बिना नहीं जाग सकती।

जटिल समस्या है परिग्रह

प्राणी मात्र के स्वभाव का सबसे दुर्बल पहलू है परिग्रह, संग्रह और लालसा। यह जन्मना मानवीय मनोवृत्ति है। अन्य सारी मनोवृत्तियां तो दुर्बल हो जाती हैं पर संग्रह और लालसा की मनोवृत्ति प्रबल होती चली जाती है। संग्रह प्रबल होगा तो हिंसा प्रबल होगी। वह परिग्रह के साथ-साथ चलती है। परिग्रह और हिंसा—ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा कभी जी नहीं सकता। आज सारी समस्याएं परिग्रह की परिक्रमा कर रही हैं। अगर केन्द्र में से एक परिग्रह को हटा लें तो ऐसा लगेगा—सारी समस्याओं का भवन ढह गया है। महावीर ने अपरिग्रह के लिए सारा जीवन लगा दिया। उन्होंने स्वयं अपरिग्रह का जीवन जीया फिर भी लोगों को अपरिग्रह की बात समझ में नहीं आ सकी। जिसे कभी सुना ही नहीं गया तो वह समझ में कैसे आएगी? इन दो शताब्दियों में इस समस्या ने एक नया रूप लिया। माक्स और एंजिल्स ने परिग्रह की समस्या को मुलभाने का प्रयत्न भी किया पर वह किसी की समझ में नहीं आया। इतनी जटिल समस्या है परिग्रह की।

सुना नहीं जा रहा है धर्म

हम इन समस्याओं में संदर्भ में भगवान् महावीर की इस वाणी को पढ़ें—अपरिग्रह को समझने की बात बहुत दूर है, अभी तो यह बात सुनी ही नहीं जा रही है। जब तक हमारी चेतना पर परिग्रह और हिंसा हावी है, तब तक धर्म की बात सुनी नहीं जा सकती। संयम, संवर आदि की तो बात ही क्यों करें? जब तक अतीन्द्रिय चेतना नहीं जागती तब तक धर्म

का स्पर्श नहीं होगा। इन्द्रिय चेतना की भूमिका में जीने वाला व्यक्ति कभी धर्म को छू नहीं सकता। प्रवृत्ति की बात हमारी समझ में आ जाएगी पर निवृत्ति की बात समझ में नहीं आएगी। इस स्थिति में धर्म के साथ छलना चलेगी। आज जहां भी धर्म की बात आएगी, हमारी भाषा उसका अर्थ बदल देगी।

पहला प्रहार कहां करें ?

समस्या यह है—जब तक हिंसा और परिग्रह की चेतना न बदले तब तक व्यक्ति धर्म नहीं सुन सकता और जब तक व्यक्ति धर्म नहीं सुन सकता तब तक हिंसा और परिग्रह की चेतना बदल नहीं सकती। अब इस चक्रव्यूह को तोड़ा कहां से जाए ? यह दुर्भेद्य ग्रन्थि है। दो समस्याओं का ऐसा छोर है, जिसे पकड़ पाना मुश्किल है। इस समस्या पर प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वतंत्र चिन्तन करना पड़ेगा—इसे तोड़ा कहां से जाए ? कहां पर पहला प्रहार करें ? इसका एक समाधान यह है कि जब व्यक्ति ताप से उत्तप्त होता है, तब पहला प्रहार करे। एक क्षण ऐसा आता है, जिस क्षण आदमी में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—ये ताप प्रबल बन जाते हैं। वह क्षण प्रहार करने का होता है। वह क्षण यही है। उस चेतना को बदलने का यही सर्वोत्तम क्षण है। आज के युग में जितना मानसिक संताप है उतना शायद पहले कभी नहीं था। जितनी व्यापारिक दौड़ और होड़ आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। इस दौड़ और होड़ ने मानसिकता को इतना संतप्त कर दिया है कि आज मनुष्य सब कुछ पा जाने के बाद भी खिन्नता का अनुभव कर रहा है। इस क्षण में ही अहिंसा और अपरिग्रह की बात सुनी जा सकती है।

श्रवण और मनन

जो कुछ मिलता है, उसका एक माध्यम होता है। हमारा दृष्टिकोण बनता है या ज्ञान का विकास होता है, उसका भी एक साधन होता है। यह सहज ही नहीं होता। इसका एक प्रकार और पद्धति है। कैसे जीवन में विकास होता है? कैसे व्यक्ति अज्ञानी से ज्ञानी बनता है। इसका एक मार्ग है। उस मार्ग को भगवान महावीर ने दो शब्दों में प्रकट किया, वह मार्ग दो चरण वाला है। पहला चरण है सुनना, दूसरा चरण है—जानना, अभिसमन्वय करना।^१

श्रवण : अभिसमन्वय

सुनना एक मार्ग है, एक कला है। हर आदमी सुनना नहीं जानता, व्यास को इसीलिए कहना पड़ा—‘ऊर्ध्वबाहो विरोम्येष, न च कश्चित् शृणोति माम् ।’ हाथ ऊंचे करके चिल्ला रहा हूँ पर कोई मुझे सुन नहीं रहा है। सुनकर आदमी सीखता है और आगे बढ़ता है। जितना कहा जाता है, उसका बहुत कम भाग सुन पाता है आदमी। जब तक गहरी एकाग्रता और उसके साथ सुनने का आकार नहीं बन जाता तब तक बात सुनी नहीं जाती। जब तक श्रोता वक्ता की वाणी के साथ तादात्म्य नहीं जोड़ लेता तब तक ठीक सुना नहीं जाता। भगवान ने कहा—सुनो, फिर आगे बढ़ो। सुनने के बाद उसका अभिसमन्वय नहीं किया, जो सुना, उसके साथ तादात्म्य नहीं जुड़ा तो जो कुछ भी सुना जाता है, वह सब बेकार हो जाता है। मार्ग पूरा नहीं बनता। श्रवण और अभिसमन्वय—दोनों मिलकर मार्ग बनते हैं।

शब्द के लिए अर्थ नहीं है

आज की समस्या यह है—बहुत सुना जाता है, बहुत पढ़ा जाता है। वस्तुतः इतना सुनने और पढ़ने की जरूरत भी नहीं है। पढ़ने में अक्षरों का व्यायाम करना ही कोई बड़ी बात नहीं है। प्रत्येक शब्द का अपना हार्द है। जब तक शब्द का वह हृदय समझ में नहीं आता तब तक पढ़ना भी बेकार है। जितने बड़े-बड़े ज्ञानी, विचारक और चिन्तक हुए हैं, उन्होंने कभी भी शब्द को नहीं पकड़ा। वे अर्थ को बोलते हैं। बड़ी मर्म की बात है

अर्थ को बोलना । शब्द के लिए अर्थ नहीं है, किन्तु अर्थ के लिए शब्द हैं । हमारे सामने प्रश्न है—पहले शब्द बना या व्याकरण बनी ? पहले घड़ा बना या घट शब्द बना ।

भाषा से जुड़ा है विकास

तत्त्वार्थ सूत्र में आर्य और अनार्य का प्रसंग है । अनार्य वह होता है जो अकर्मभूमि में पैदा होता है । कर्मभूमि में पैदा होने वाला आर्य होता है । इसका मतलब है—जहां विकास नहीं होता, वहां पैदा होने वाले अनार्य हैं । जहां न कर्म का विकास, न शिल्प का विकास, न भाषा का विकास, वहां अनार्य लोग होते हैं । यौगलिक या अकर्मभूमि में जो पैदा होता है, उसके भाषा का विकास नहीं होता । जहां कर्म नहीं, व्यवसाय नहीं, वहां भाषा का विकास होगा भी कैसे ? यौगलिक मनुष्य वही खाते हैं, जो पेड़ से मिलता है । शब्द का विकास होता है कर्मभूमि में । जहां वाणिज्य है, व्यवसाय है, लेन-देन है, खेती है, कला और शिल्प है वहां सारा कर्म का विकास होता है और वहीं शब्दों का विकास होता है । यह भाषा का विकास अर्थ के साथ हुआ है ।

हमें पकड़ना क्या है ? अर्थ को पकड़ना है या शब्द को ? भगवान् ने कहा—हम अर्थ को समझें, केवल शब्दों के गुलाम न बनें । हम शब्दों के गुलाम नहीं, शब्दों के स्वामी बनें । शब्द का स्वामी वह हो सकता है, जो सुनने के पश्चात् 'अभिसमेच्चा' का प्रयोग कर सके, उसका मनन कर सके, अर्थ को पकड़ सके । महावीर ने कहा—सूत्र को मानो पर साथ ही सूत्र के अर्थ को भी पकड़ो ।

अर्थागम की चाबी

अर्थागम की मूल चाबी आचार्य के पास होती है । आचार्य अनुयोगकृत होते हैं । आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलिभद्र को शेष चार पूर्व का ज्ञान पढ़ा दिया किन्तु अर्थ नहीं बताया । इसका परिणाम यह हुआ—पढ़ा अनपढ़ा हो गया, जाना अनजाना हो गया । एक ग्रन्थ है—अंगविद्या । अंगविद्या के बारे में इससे बढ़िया कोई ग्रंथ जानने को अब तक नहीं मिला है । पर उसे पढ़ाने वाला कौन है ? 'नयचक्र' आचार्य मल्लवादी का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । न्याय का यह अद्वितीय ग्रन्थ तो मिल गया पर उसे पढ़ाने वाला कौन है ? एक जैन साहित्य का ग्रन्थ मिला 'भूवल्लय ।' छोट्टा-सा ग्रन्थ है, मात्र एक पन्ने का ग्रन्थ है । एक विद्वान् ने बतलाया—इसमें से ७०० भाषाएं निकाली जा सकती हैं । इसमें गणित के महत्त्वपूर्ण सूत्रों का समावेश है । पर शब्दों और अंकों से क्या हो सकता है ? उसका हृदय समझना आवश्यक है । जब तक यह बात नहीं बनती तब तक कुछ नहीं हो सकता । जरूरत है

मनन की। इसीलिए कहा गया—शब्द तो तुम पढ़-सुन सकते हो, पर अर्थ की चाबी तो गुरु के पास ही होती है, इसलिए यह दूसरा जो विषय है मनन का, उसकी काफी कमी रहती है।

जरूरी है मनन

श्रवण करने के बाद मनन जरूरी है। मनन में समय ज्यादा लगना चाहिए। अध्ययन की पद्धति यह होनी चाहिए—अगर एक घंटा वाचन किया तो तीन घंटे मनन करना चाहिए। तब वह सही अर्थ में अध्ययन कहा जाएगा। इस स्थिति में 'सोच्चा अभिसमेच्चा' पाठ सार्थक हो सकता है। जैसे तेल की एक बूंद पानी से भरे पात्र में फैल जाती है वैसे ही विद्या का प्रसरण भी होता है। जब मनन किया जाता है तब वह संभव बनता है।

हम केवल 'सोच्चा' इस सूत्र को न पकड़ें। दो स्थानों से आत्मा बोधि, सम्यक्त्व, संयम—इन सबको प्राप्त करता है। वे दो स्थान हैं—श्रवण और मनन। अर्थ हमेशा शब्द के पीछे छिपा रहता है। जो केवल शब्द को पकड़ता है, अर्थ की आत्मा तक नहीं पहुंचता, वह अनर्थ को ही जन्म देता है। दोनों प्रयोग साथ-साथ चलते हैं तो चिन्तन के विकास की दृष्टि से, वैचारिक विकास की दृष्टि से बहुत विकास हो सकेगा। विचार का पहला नियम है—जब तक मैं स्पष्ट नहीं समझ लूंगा, तब तक मैं उसको स्वीकार नहीं करूंगा। दूसरा नियम है—जो भी मैंने सुना है, उसे बांटूंगा। बांटने के बाद जितना काम का बचेगा, उस पर मैं अधिक ध्यान दूंगा। विचार का तीसरा नियम है—मैं पहले सरल बात पर विचार करूंगा। उसके बाद कठिन पर विचार करूंगा। फिर क्रमशः कठिनतर और कठिनतम पर विचार करूंगा। विचार के ये नियम श्रवण और मनन से जुड़े हुए हैं। यदि इन दोनों पर समन्वित ध्यान दिया जाए तो हमारे विकास का मार्ग अधिक प्रशस्त होगा।

धर्म के दो प्रकार

धर्म की परिभाषा

धर्म के विषय मे बहुत चर्चाएं होती हैं। वस्तुतः जो बात काम की होती है, उसके बारे में बहुत चर्चा की जाती है। ऐसा अनुभव किया गया— धर्म के बिना जीवन अच्छा नहीं चल सकता। प्रश्न है—धर्म आखिर है क्या ? जैन आगमों में भी धर्म की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं। परिभाषाओं के पीछे अनेक अपेक्षाएं होती हैं, विशेष दृष्टिकोण होता है और उसके आधार पर परिभाषा की जाती है।

स्थानांग सूत्र में धर्म की एक परिभाषा वर्गीकरण के रूप में दी गई है। यह प्राचीन पद्धति रही है—अमुक तत्त्व का प्रकार बताओ तो परिभाषा निकल आती है। धर्म के संदर्भ में कहा गया—**धम्मं दुविहे पणत्ते—सुयधम्मं चेव, चरित्तधम्मं चेव।** धर्म के दो प्रकार हैं—श्रुतधर्म और चरित्र-धर्म। धर्म की एक परिभाषा बन गई—श्रुत का अनुशीलन करना तथा चरित्र का अभ्यास करना, इसका नाम है धर्म।

ज्ञान : अनेक अर्थ

ज्ञान का नाम है—श्रुत। ज्ञान के बहुत अर्थ हैं। आगम साहित्य और कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य से ज्ञान के कई अर्थ फलित होते हैं। ज्ञान का एक अर्थ है, जानना। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ, अज्ञान मिटा, ज्ञान प्राप्त हो गया। ज्ञान का दूसरा अर्थ है—अतीन्द्रिय ज्ञान—केवलज्ञान। यह वास्तविक ज्ञान है। बाकी सब काम चलाऊ ज्ञान हैं। सर्वात्मना प्रकाश या मूल ज्ञान है केवलज्ञान। उसमें न कभी संशय होता है, न विपर्यय होता है, न विपरीत ज्ञान होता है। बिल्कुल विशुद्ध और प्रत्यक्ष होता है केवलज्ञान। ज्ञान का एक अर्थ है—भेद-विज्ञान—आत्मा और शरीर को अलग-अलग समझना। यही सम्यग् ज्ञान है। ज्ञान का एक अर्थ है—राग रहित ज्ञान। वह ज्ञान, जिसमें राग-द्वेष का मिश्रण न हो।

मोक्ष का साधन है—श्रुतज्ञान

प्रश्न है—ज्ञान मोक्ष का साधन है। कौन-सा ज्ञान मोक्ष का साधन

बन सकता है ? जो ज्ञान ज्ञानावरण का क्षयोपशम या क्षायिक भाव है, वह मोक्ष का साधन नहीं है । वह तो हमारा स्वरूप है । वह साधना का अंग नहीं है । साधना का अंग है श्रुतज्ञान यानी स्वाध्याय । जहाँ मोक्ष का मार्ग बताया गया है, वहाँ ज्ञान का अर्थ है श्रुतज्ञान । नाणं दुआलसंगं—द्वादशांगी है श्रुत ज्ञान । श्रुत धर्म भी दो प्रकार का है । सूत्र श्रुत-धर्म और अर्थ श्रुत-धर्म । इसका अर्थ यह है—जो ज्ञान मोक्ष का साधन या धर्म है, वह है—स्वाध्याय करना, श्रुतज्ञान । केवलज्ञान धर्म नहीं है, मोक्ष का साधन भी नहीं है ।

दो शब्द प्रचलित हैं—उजला लेखे और करणी लेखे । श्रुतज्ञान उजला लेखे धर्म नहीं है । जिसमें निर्जरा हो, संवर हो, उस क्रिया का नाम है धर्म । एक प्रश्न उठाया गया—सम्यक्दर्शनज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः—सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरित्र मोक्ष का मार्ग है । ज्ञान मोक्ष का मार्ग कैसे हो सकता है ? दर्शन के भी आठ आचार हैं । वह मोक्ष का मार्ग है । उन्हें बताया गया—यहाँ ज्ञान का अर्थ श्रुतज्ञान से है, द्वादशांगी के स्वाध्याय से है । सूत्र को पढ़ना, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह है—धर्म । इसके द्वारा विवक्षा की है निर्जरा धर्म की । श्रुत धर्म हमारा निर्जरा धर्म है । स्वाध्याय में केवल शास्त्र का ज्ञान किया गया है । वास्तव में धर्म बनता है आत्म-ज्ञान । जिससे मैत्री का विकास हो, रागद्वेष कम हो, वह ज्ञान आत्म-ज्ञान, शास्त्र का ज्ञान है ।

आगम का प्रतिपाद्य

संपूर्ण जैनागमों का एक शब्द में प्रतिपाद्य है—वीतरागता । जो वीतरागता की बात नहीं कहता, वह जिन-आगम नहीं है । बहुत सारे ग्रंथ हैं, जिनमें राग-द्वेष को बढ़ाने वाली बातें भी हैं, उनका पाठ श्रुत का स्वाध्याय नहीं माना जाता । एक ओर कहा गया—युद्ध में मरने वाले को सुरांगना मिलती है । भगवान महावीर की भाषा में युद्ध करने वाले नरक में गए हैं । भगवान ने तो यहाँ तक कहा—शस्त्रों का निर्माण करना ही पाप है, धर्म के विरुद्ध है । यह बात कोई वीतराग ही कह सकता है । जहाँ इतनी वीतरागता की बात है, वह आगम निर्दोष है । प्रश्न आया—देव, गुरु और धर्म कौन ? हमारे आचार्यों ने कसौटी दी—जिसके हाथ में शस्त्र है, गदा है, वह हमारा देव नहीं हो सकता । जिसके साथ में स्त्री है, वह हमारा देव नहीं हो सकता । स्त्री का होना राग का चिह्न है तथा शस्त्र का होना द्वेष का चिह्न है । आगम हैं वीतरागता के प्रतिपादक इसलिए उनका स्वाध्याय करना धर्म है । स्वाध्याय से बहुत निर्जरा होती है ।

चारित्र्य का अर्थ

धर्म का दूसरा स्थान है—चारित्र्य, आचरण का । धर्म के आचरण में

मुख्यता दी गई है व्रतों को। आचरण के दो प्रकार हैं—अगार चारित्र धर्म और अनगार चारित्र धर्म, गृहस्थ का चारित्र धर्म और संन्यासी का चारित्र धर्म। गृहस्थ का चारित्र धर्म बारह प्रकार का है और साधु का चारित्र धर्म पांच प्रकार का है। महावीर का धर्म है—संयम और व्रत का धर्म। हमें पहुंचना है व्रतों के आचरण तक, संयम की साधना तक।

धर्म के दो मुख्य सूत्र बन गए—स्वाध्याय करना और व्रती रहना, संयमी रहना। अगर स्वाध्याय नहीं है तो आचरण समझ में ही नहीं आएगा। स्वाध्याय एक प्रकाश है, जहां दीख जाता है कि व्रत क्या है? जीवन क्या है? आचरण क्या है? आचरण की एक शब्द में व्याख्या की जाए तो वह होगी—समता। जिसमें समता है, वह धर्म है। जिसमें समता नहीं है, वह धर्म नहीं है। समता और वीतरागता एक ही बात है। राग-द्वेष से मुक्त, लाभ-अलाभ से मुक्त जो स्थिति है, वह है समता। वही है वीतरागता। जिसमें समता है, उसका आचरण स्वाभाविक होगा। जिसके मन में विषमता है, उसका आचरण अस्वाभाविक होगा। चारित्र का अर्थ है—समता। इसीलिए चारित्र का सही नाम चुना गया—सामायिक। समय यानी आत्मा। आत्मा में होना, राग-द्वेष में न होना सामायिक है।

सामायिक से अलग कोई हमारा चारित्र नहीं है और चारित्र से अलग कोई सामायिक नहीं है। मुनि ने आजीवन ऐसे चारित्र को स्वीकारा है। वह बिल्कुल उसी चारित्र में जीएगा, इसलिए उसका सारा जीवन सामायिक बन गया। वह वीतरागता की दिशा में गति करेगा। वीतरागता की कसौटी है—वीतरागता का अनुशीलन करना, वीतरागता के पथ पर चलना, वीतरागता का अनुभव करना। श्रुत धर्म और चरित्र धर्म की निष्पत्ति है—वीतरागता। यही ध्येय है, यही श्रेय है।

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति

गुणों की एक लंबी तालिका है। सबसे विशेष गुण क्या है? सबसे बड़ी विशेषता क्या है? वह गुण, जो एक व्यक्ति में हो और हजारों में संक्रांत हो जाए, दूसरों को प्रभावित करे, वह गुण कौनसा है? वह विशेषता कौनसी है, जो दूसरों को कुछ सोचने के लिए बाध्य करे? उन उदात्त गुणों की सूची में एक बड़ा गुण है—कृतज्ञता।

जयाचार्य बहुत बड़े विद्वान् थे, शक्ति-संपन्न थे। उनमें प्रज्ञा और मेधा—दोनों जागृत थीं पर एक पद उनका रटा-रटाया-सा बन गया—भिक्षु, भारीमाल और ऋषिराय के प्रसाद से मैंने यह कार्य किया। यह वाक्य उनकी महानता का सूचक है। यह कृतज्ञता का गुण ऐसा है, जो व्यक्ति को महान् बनाता है। हो सकता है—जयाचार्य ज्यादा प्रतिभा या मेधा संपन्न हों पर अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान प्रकट करना, उनकी कृपा से ही सब कुछ होना, इसी स्वीकृति ने जयाचार्य को महान् बना दिया। उनकी महानता आज भी प्रभावित करती है। वे आगम के विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने इस महत्त्व को समझा था।

अकृतज्ञता : परिणाम

स्थानांग सूत्र का एक प्रकरण है—चार ऐसे स्थान हैं, जहां गुण छोटे होते हुए भी प्रदीप्त हो जाते हैं—^१

१. क्रोध
२. प्रतिनिवेश—दूसरों की पूजा प्रतिष्ठा सहन न कर पाना
३. अकृतज्ञता
४. मिथ्याभिनिवेश—दुराग्रह।

क्रोध एक ऐसा कारण है, जिसमें बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं। जो ईर्ष्यालु है, दूसरों की प्रतिष्ठा को सहन नहीं कर सकता, वह व्यक्ति चाहे कितना ही गुणी हो, उसके गुण नीचे दब जाते हैं। तीसरा कारण है अकृतज्ञता। जिसमें बहुत सारे गुण हैं, पर एक कृतज्ञता का गुण नहीं है, जो अकृतज्ञ है, उसके मारे गुण नीचे दब जाते हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी पूजा अपनी प्रतिष्ठा और अपनी ही विशेषता बतलाएगा। वह कहेगा—मैंने यह

किया, मैंने वह किया। पहले वालों ने जो भी उपकार किया, वह उसे भुला देगा।

मुनि चांदमलजी ने पूज्य कालूगणी की मुनि अवस्था में बहूत सेवा की। उसी सेवा को ध्यान में रखकर कालूगणी ने उनके लिए क्या-क्या नहीं किया? एक प्रकार से उनके साधु-जीवन को सुरक्षित रख दिया। वे स्वभाव से कुछ तेज थे। ऐसा तीव्र स्वभाव था कि साधुपन पलना मुश्किल हो जाए। कालूगणी ने उनका सिंघाड़ा भी बना दिया।

स्वस्थ समाज का लक्षण

जो बड़ा आदमी होता है, वह कभी अकृतज्ञ नहीं होता।

स्थानांग में कहा गया—गुण विशेष नहीं है पर चार कारणों से गुण उद्दीप्त हो जाते हैं—^१

१. गुण ग्रहण करने का स्वभाव।

२. पराए विचारों का अनुगमन करना।

४. प्रयोजन सिद्धि के लिए दूसरे को अनुकूल बनाना।

३. कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करना।

उनमें एक प्रमुख कारण है—कृतज्ञता। अगर व्यक्ति कृतज्ञ है, तो दूसरे के मन में आदर का भाव पैदा होता है। जो कृतज्ञ है, कृत बात को कभी छिपाता नहीं है, वही महान् होता है। तेरापंथ का जो विकास हुआ है, उसमें अनेक कारण हैं पर एक मुख्य कारण है—कृतज्ञता। तेरापंथ ने इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को समझा है। तीन उपकार ऐसे हैं, जिनका कोई बदला नहीं चुकाया जा सकता। पहला है—माता-पिता का बदला चुकाना मुश्किल है। हिन्दुस्तान में तो अब भी माता-पिता के प्रति थोड़ा आदर भाव है पर विदेशों में स्थिति बिलकुल दूसरी है। एक कहावत है—इस पेड़ को किसने पाला? ऐसे चिन्तन वाले व्यक्तियों से कभी भी अच्छा समाज नहीं बन सकता।

स्वस्थ समाज उन व्यक्तियों से बना है, जिन्होंने कृत को माना है।

कृतज्ञता का दूसरा स्थान है उपकारक। नीति-शास्त्र में यहां तक कहा गया—

एकाक्षरप्रदातारं यो नाभिमन्यते गुरुम्।

श्वानयोनौ शतं गत्वा, चण्डालेष्वपि जायते ॥

एक भी सुवचन जिससे सुना और काम बन गया, वह उपकारी है। आज स्वतंत्रता के नाम पर हर व्यक्ति का अहंकार बढ़ रहा है और इस सूत्र को भुलाया जा रहा है।

धर्माचार्य के प्रति

कृतज्ञता का तीसरा स्थान है धर्माचार्य । धर्माचार्य का कितना उपकार होता है ! उसके उपकार का कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता । तेरापंथ में आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक कृतज्ञता की परम्परा रही है । आचार्य भिक्षु ने महा—खेतसी, रायचन्द आदि मुनियों के योग से मैंने सुखपूर्वक साधुपन पाला । क्या कोई इतनी कृतज्ञता की बात कह सकता है ? यह स्वर कृतज्ञता से अनुप्राणित स्वर है । तेरापंथ में वही बीज पनपता चला गया । जब आचार्य भिक्षु इतने कृतज्ञ थे तब जयाचार्य का कृतज्ञ होना कौनसी आश्चर्य की बात है ? हम कालुयशोविलास को पढ़ें । आचार्यश्री की कृतज्ञता का एक सजीव चित्र सामने आ जाता है । अहंकार का इतना विलय होना अपने आपमें एक महानता है और बड़ा वही बन सकता है, जिसमें अहंकार का विलय करने की क्षमता है । जिस राजा ने अहंकार किया, उसके सामन्त उसके विरोधी हो गए । जिसमें सबके प्रति कृतज्ञता का भाव होता है, उसे सब लोग चाहते हैं ।

अपनी बात

प्रत्येक समर्थ व्यक्ति के सामने भी यही प्रश्न है—हमारी समर्थता की पृष्ठभूमि में कितने व्यक्तियों का योग रहा है ? हम चाहें कितने ही समर्थ हो जाएं पर क्या उस समय को भूल जाएं ? उन व्यक्तियों को भुला दें ? जब मैं दीक्षित हुआ, मेरी अवस्था थी दस वर्ष । आचार्यश्री थे सोलह-सत्रह वर्ष के । आचार्यश्री बहुत होशियार तथा दक्ष साधु माने जाते थे । आचार्यश्री बार-बार फरमाते हैं—मैं कुछ भी नहीं था, कालूगणी ने ही सब कुछ बनाया । पूज्य कालूगणी ने आचार्यवर को जो अवसर दिया, ऐसा अवसर किसी भाग्यशाली को ही मिलता है ।

मैं अपनी स्थिति बताऊँ । छोटे गांव में जन्मा । विद्यालय भी नहीं था । पढ़ने का कोई साधन नहीं । सरदारशहर में ननिहाल था । वहां नेमीचन्दजी सिद्ध के पास रहकर थोड़ा बहुत पढ़ा । पूज्य कालूगणी के पास दीक्षित हो गया । बीदासर का पंचायती नोहरा । उसके ऊपर गणेशजी का उपासरा । आचार्यश्री संस्कृत की साधनिका करवा रहे थे । मुझे बताया—जिन शब्द में प्रथमा विभक्ति में आगे 'सि' हो तो 'जिनः' रूप बनेगा । मैंने कहा—'सि' ही क्यों आएगा ? 'ति' क्यों नहीं आएगा ? आचार्यश्री ने कहा—तुम्हें संस्कृत आनी मुश्किल है ।

अकल्पनीय बदलाव

एक बार पूज्य कालूगणी ने संतों के अक्षर देखे । मैंने भी दिखाए । मंत्री मुनि ने कहा—'कुंवर साहब के अक्षर तो डागलै सूखे जिस्सा है ।' न

लिखने की स्थिति, न याद करने की स्थिति और न समझने की स्थिति । जब भी कालुगणी को विनोद करना होता, तब मैं विनोद का पात्र बनता । यह मेरा सौभाग्य है—पूज्य कालुगणी का और आचार्यश्री का ऐसा वात्सल्य और करुणापूर्ण अभिसिचन मिला, मेरी स्थिति बदल गई । १५-१६ वर्ष का मुनि नथमल और उसके बाद का मुनि नथमल—बहुत अन्तर आ गया । कोई कल्पना ही नहीं कर सकता कि यह वही मुनि नथमल है । यह सब होता है—गुरु की कृपा से । अगर इतना पोषण और सिचन न मिलता तो मुनि नथमल कभी युवाचार्य महाप्रज्ञ नहीं बन पाता ।

महानता की दिशा

हम यह मानते हैं—क्षयोपशम विद्यमान है पर निमित्त न मिले तो क्षयोपशम भी निकम्मा चला जाएगा । अगर गुरु का निमित्त न मिले तो विद्यमान शक्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं । इस सारी स्थिति को देखें तो यह स्पष्ट लगता है—अकृतज्ञ होने के लिए कोई अवकाश नहीं है । अपने गुरु, आचार्य और उपकारी के प्रति कोई अकृतज्ञ होता है, तो वह ढीठ होता है । यह वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है—धर्माचार्य दुष्प्रतिकार होता है, उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता । उसके प्रति सदा कृतज्ञ रहना चाहिए । स्थानांग का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—तीन व्यक्ति दुष्प्रतिकार होते हैं—उनके उपकार का बदला कभी भी नहीं चुकाया जा सकता—माता-पिता, उपकारी और धर्माचार्य ।^१ तेरापंथ की महान् परम्परा कृतज्ञता की परम्परा है । सबके प्रति मन में कृतज्ञता की भावना रहे तो प्रत्येक व्यक्ति उदात्त मनोवृत्ति वाला बन जाए । कृतज्ञता की परम्परा का निर्वहन करने वाले व्यक्ति ही इस सूक्त की सार्थकता के प्रतीक हैं । न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति—जिनके जीवन में यह सूत्र चरितार्थ हो जाता है, उन्हें महानता की दिशा उपलब्ध हो जाती है । व्यक्ति को वह उपलब्ध होता है, जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी । (हम कृतज्ञता का मूल्यांकन करें, महानता का सूत्र उपलब्ध हो जाएगा ।)

आत्मरक्षा एक अहिंसक की

भगवान् ऋषभ ने अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया। जब मोक्ष और सयम की बात सामने आई, धर्म और अहिंसा की बात सामने आई तब अनेक समस्याएं पैदा हुईं। उससे पहले कोई बात ही नहीं थी। जहां समाज की भूमिका है वहां अहिंसा जैसा कोई शब्द भी नहीं होगा। समाज की भूमिका में केवल उपयोगिता का मूल्य होगा। जिसकी उपयोगिता है, वह अच्छा है और जो अनुपयोगी है, वह बुरा है। यह सारी शब्दावली विकसित हुई है मोक्ष के सन्दर्भ में। जब आत्मा, मोक्ष और बन्धन पर चिन्तन हुआ, बन्धन-मुक्ति की बात सामने आई तब हिंसा-अहिंसा, कर्म का बन्ध, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म—ये सारे शब्द सामने आए। उस स्थिति में एक संघर्ष पैदा हो गया। समाज में अनेक प्रवृत्तियां चलती हैं, समाज की रक्षा के लिए, राष्ट्र की रक्षा के लिए या किसी प्राणी की रक्षा के लिए। उसे क्या माना जाए? धर्म माना जाए या अधर्म माना जाए? यह प्रश्न खड़ा हो गया। इस प्रश्न के सन्दर्भ में अनेक विचार आए, अनेक मत बन गए। कुछ विचारकों ने सब कुछ को धर्म मान लिया। जब धर्म प्रतिष्ठित हो गया तब यह जरूरी था—प्रत्येक उपयोगी बात को धर्म का रूप दिया जाए। प्रत्येक प्रवृत्ति को धर्म का जामा पहनाने या एक स्वरूप देने का क्रम शुरू हो गया। अहिंसा की समस्या और उलझ गई।

अहिंसा की परम्परा

भगवान् महावीर ने अहिंसा का बहुत सुन्दर चिन्तन दिया। आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्न व्याकरण सूत्र आदि-आदि आगमों में हिंसा और अहिंसा के जीवंत पहलुओं पर विचार किया गया। बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी अहिंसा पर इतना विचार नहीं हुआ। जैन परम्परा में कुछ प्रमुख आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा पर काफी सोचा। जिनभद्रगण का विशेषावश्यक भाष्य अहिंसा की चर्चा से भरा पड़ा है। हरिभद्र ने भी अहिंसा पर बहुत चिन्तन किया। 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' अहिंसा के विविध पहलुओं का विश्लेषण करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य भिक्षु जैसे बहुत कम आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा पर इतना जोर दिया। 'जैन-सिद्धांत दीपिका', 'अहिंसा तत्त्वदर्शन', और 'भिक्षु विचार दर्शन' इन ग्रन्थों

में अहिंसा पर बहुत विचार किया गया है। महात्मा गांधी ने भी हिंसा और अहिंसा की समस्या पर गहराई से विचार किया था।

अहिंसा : एक समस्या

अहिंसा की एक समस्या है—एक व्यक्ति हिंसा कर रहा है। क्या उसे रोका जा सकता है? क्या उसे अहिंसक बनाया जा सकता है? क्या ऐसा करना हमारे लिए सम्भव है? एक सामान्य नियम मान लिया गया—‘जीवो जीवस्य जीवनम्’—जीव ही जीव का जीवन है। गांधीजी के सामने प्रश्न आया—छिपकलियां बहुत जीवों को मारती हैं। क्या छिपकली को मार देना चाहिए, जिससे बहुत से जीव बच जाएं? क्या सिंह-बाघ आदि को मार दिया जाए, जिससे बहुत से जीव बच जाएं? गांधीजी ने उत्तर दिया—प्रकृति के नियम और काम में हस्तक्षेप करना मेरा काम नहीं है।

यह बहुत सुन्दर समाधान है।

आत्म-रक्षक का कर्तव्य

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा—एक हिंसक पशु को मार दिया जाए, यह सोचना अहिंसा पर प्रहार करना है। आचार्य भिक्षु ने कहा—दूसरे जीवों को बचाने के लिए बलात् किसी को मार देना, यह अहिंसा का प्रश्न ही नहीं है। अहिंसा के सामने एक मात्र उपाय है हृदय-परिवर्तन। इन समस्याओं के सन्दर्भ में महावीर का चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के आत्म-रक्षक बतलाए गए हैं। आत्मा की रक्षा के हमारे सामने तीन साधन हैं—^१

१. हिंसा छोड़ने के लिए प्रेरित करना।
२. न माने तो मौन हो जाना।
३. मौन न रह पाएं या उस हिंसा को न देख पाएं तो एकांत में चले जाना।

द्रष्टा न रहे

एक हिंसा कर रहा है, दूसरा मौन खड़ा देख रहा है, तो वह भी हिंसक है। एक प्रश्न है—एक व्यक्ति हिंसा कर रहा है, उस समय देखने वाले का क्या कर्तव्य है? जिसमें अहिंसा का भाव है, वह क्या करे? बताया गया—वह द्रष्टा न रहे। पहला काम यह है कि वह उसे हिंसा न करने का उपदेश दे, धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित करे। यह प्रेरणा केवल मनुष्य को ही दी जा सकती है। एक पेड़ को यह प्रेरणा नहीं दी जा सकती, सिंह को यह प्रेरणा नहीं दी जा सकती। एकेन्द्रिय प्राणी को यह प्रेरणा नहीं दी

जा सकती। पशु-पक्षियों को भी यह प्रेरणा न दी जा सकती। यह केवल विषय बनता है मनुष्य का और उसमें भी समझने वाले मनुष्य का। मनुष्यों में भी कुछ पशु हैं, जैसे आतंकवादी। उन पर प्रेरणा का कोई फर्क नहीं पड़ता।

मौन हो जाए

महावीर ने कहा—पहला काम है, धर्म की प्रेरणा दे। यह पहला उपाय है हिंसा से बचाने का। हिंसा करने वाले व्यक्ति को उपदेश दिया फिर भी वह नहीं मानता है, हिंसा नहीं छोड़ता है तब अहिंसक की क्या मर्यादा होनी चाहिए? प्रतिक्रिया करना भी अहिंसक की मर्यादा नहीं है। उस समय अहिंसक की मर्यादा है—वह मौन हो जाए। वह सोचे—मैंने इसे समझाया, मेरा कर्तव्य तो मैंने निभा दिया। अहिंसा में बल-प्रयोग को कोई स्थान ही नहीं है। जहाँ भी अहिंसा में भय या प्रलोभन आ गया, वहाँ एक नया व्यापार शुरू हो गया।

प्रलोभन न दे

एक व्यक्ति ने कहा—बकरे को मत मारो, पचास रुपए दूंगा। उस व्यक्ति ने उसे न मारना स्वीकार कर लिया। उसे पचास रुपए मिल गए। अब वह रोज ज्यादा बकरे लाने लगा। व्यक्ति उन्हें कब तक छुड़ाएगा? यह एक नया व्यापार हो गया। हिंसा बढ़ जाएगी। यह मर्यादा नहीं हो सकती।

बल-प्रयोग का स्थान है समाज की भूमिका में। ये सारी उलझनें क्यों पैदा हुईं? जो अहिंसा और अध्यात्म का चिन्तन था, उसका आरोपण हमने सामाजिक भूमिका पर कर दिया और जो समाज की भूमिका का चिन्तन था, उसका आरोपण हमने अध्यात्म की भूमिका पर कर दिया। यहीं समस्या पैदा हो गई।

भिन्न है भूमिका

हम साफ-साफ समझें—समाज की भूमिका का चिन्तन एक प्रकार का होगा। समाज की परिभाषा—शब्दावली एक प्रकार की होगी। जो तत्त्व समाज की रक्षा और विकास में उपयोगी हैं, वे हमारे लिए अच्छे हैं, जो अनुपयोगी हैं, वे हमारे लिए अच्छे नहीं हैं। समाज का लक्ष्य भिन्न है, शब्दावली भिन्न है और साधन भी भिन्न हैं। अध्यात्म का लक्ष्य भिन्न है, साधन और शब्दावली भी भिन्न है। जब हम दोनों को मिश्रित कर देते हैं तब समस्या क्यों नहीं उलझेगी?

प्रश्न है देश की रक्षा का। हम अहिंसा की दृष्टि से सोचेंगे तो मामला गड़बड़ा जाएगा। यह तथ्य है—जब तक परिग्रह है, हिंसा होती

रहेगी। परिग्रह का दूसरा नाम है—हिंसा। परिग्रह समाप्त होगा तो हिंसा भी छूट जाएगी। कितना साफ चिन्तन है। पर भूमिका-भेद न समझने से समस्या उलझ गई। इस विषय पर लोकमान्य तिलक का चिन्तन सही था।

एकांत में चला जाए

तीसरा चिन्तन है—एक व्यक्ति दूसरे को मार रहा है। उस स्थिति में क्या करे? कहा गया—वहां से उठकर एकांत में चला जाए। यह सोचे—मैंने इसे समझाया, यह माना नहीं। मैं अब इस हिंसा को नहीं देख सकता। मेरी आत्मा कांप उठी है। इस स्थिति में वह वहां से उठकर दूसरे स्थान पर चला जाए। यह है तीसरा मार्ग।

अहिंसा के ये तीन मार्ग बतलाए गए। एक अहिंसक की मर्यादा क्या हो? वह हिंसा की समस्या में क्या करे? वह अपनी बलि दे, अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दे, यह अहिंसक की मर्यादा है पर दूसरे के प्राणों का उत्सर्ग करे, यह अहिंसक की मर्यादा नहीं है। कितना कठोर धर्म है अहिंसक का। इस पर चलना सामान्य आदमी के वश की बात नहीं है।

मार्मिक प्रसंग

मेतार्य मुनि के जीवन का मार्मिक प्रसंग है। एक बार मेतार्य मुनि राजगृही में मासखमण के पारणे के लिए भिक्षार्थ घूम रहे थे। वे अनायास सुनार के घर भिक्षा के लिए पहुंच गए। सुनार उस समय सोने के यव बना रहा था। मुनि को देखते ही सुनार ने करबद्ध वंदन किया। वह भिक्षा लाने के लिए अन्दर गया। उसी समय एक कौञ्च पक्षी आया। वह सोने के यवों को असली यव समझ कर निगल गया। सुनार भिक्षा लेकर आया। उसने देखा—यव नहीं हैं। वह चिन्तित हो उठा। उसने मुनि से यव के बारे में पूछा। मुनि ने सोचा—यदि मैं सच बोलता हूं तो सुनार कौञ्च पक्षी को मार देगा। मैं प्राणिवध का निमित्त बनूंगा। यदि मैं भूठ बोलूंगा तो सत्य का व्रत टूट जाएगा। दोनों ओर समस्या है। इस समस्या से बचने के लिए क्या करूं? मुनि मौन हो गए। सुनार ने अनेक बार मेतार्य मुनि से यवों के बारे में पूछा। मुनि को मौन देखकर वह क्रुद्ध हो उठा। उसने सोचा—इस कपटी मुनि ने ही स्वर्ण यव लिए हैं। क्रोध में बेभान होकर सुनार ने मुनि को पकड़ा। मुनि के मस्तक पर चमड़ा गीला कर बांध दिया। मुनि को घर के प्रागण में खड़ा कर दिया। ज्यों-ज्यों चमड़े का कसाव बढ़ा, मुनि को अपार वेदना होने लगी। मुनि ने उस भयंकर वेदना को समभाव से सहा।

उसी समय एक लकड़हारा सुनार के घर आया। उसने लकड़ियों का गट्टर नीचे गिराया। उस गट्टर के गिरने की तीव्र आवाज से कौञ्च पक्षी

भयभीत हो गया। भय से उसने विष्ठा कर दी। स्वर्ण यव निकल आए। स्वर्णकार उन्हें देख विस्मित रह गया। स्वर्णकार तत्काल मुनि के पास आया। असह्य वेदना को समभाव से सहते-सहते मुनि का प्राणान्त हो चुका था। स्वर्णकार ने देखा। उसका मन पश्चात्ताप से भर उठा। लेकिन अब क्या हो सकता था? मुनि ने अहिंसा की आराधना के लिए अपने शरीर का बलिदान कर दिया।

मौन का विवेक

यह है अहिंसक की मर्यादा, आत्मरक्षक की मर्यादा। यह मौन विवेक है—किस प्रसंग में अहिंसक को मौन रहना चाहिए। अनेक बार ऐसी समस्याएं आती हैं। मुनि जंगल में जा रहे थे। चोर चोरी करके आया पुच्छिस और नागरिक पीछे आ रहे थे। उन्होंने पूछा—महाराज! चो किधर गया? इस स्थिति में मुनि क्या करे? कुछ ग्रन्थों में उल्लेख है—चोर का पता बता देना चाहिए। पर आचारांग में बताया गया है—‘ब्रह्म जानता है तो भी कह दे—मैं नहीं जानता कि वह किधर गया है।’ इसकी समीक्षा करते हुए जयाचार्य ने लिखा—कितना बड़ा भ्रूठ! अगर एक अहिंसक भ्रूठ का सहारा लेगा, सत्याग्रही नहीं होगा तो सत्य और अहिंसा को तोड़ने में फर्क क्या रह जायेगा? अन्य सारे व्रत तो अहिंसक के तालाब के सेतु हैं। अगर सेतु को तोड़ दिया तो तालाब कैसे बचेगा? जब यह जानता है कि शिकारी का शिकार किधर गया है? और यह कहे—मैं नहीं जानता। इस स्थिति में अहिंसा का व्रत तो अपने भाप टूट गया। जयाचार्य ने लिखा—‘जाणं इति णो वदेज्जा’—इसका साफ-साफ प्रयोजन है कि अहिंसा करने के लिए अगर सत्य को तोड़ दिया तो सत्याग्रही कह रहा?

नेष्कर्ष की भाषा

आत्मरक्षा का प्रश्न अहिंसा से जुड़ा हुआ प्रश्न है। अहिंसा और अहिंसा की बहुत सारी समस्याएं हैं। उनके सन्दर्भ में विचार करें तो नेष्कर्ष की भाषा में अहिंसक की तीन मर्यादाएं प्रस्तुत होती हैं—

१. उपदेश, हृदय परिवर्तन।
२. मौन।
३. एकांत में चले जाना।

अहिंसा और अहिंसा के सन्दर्भ में यह बहुत मार्मिक सूत्र है—‘तथो आयरक्खा पण्णत्ता’^१। हम इस छोटे से पाठ को समझने का प्रयत्न करें तो हमारी समस्या का समुचित समाधान हो सकेगा।

१. ठाणं ३/३४८

अनुशासन की त्रिपदी

दुनिया में एक भी व्यक्ति अनुशासनविहीन मिलना मुश्किल है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप पर अनुशासन बनाए हुए है। यदि चौबीस घंटे में एक घंटा भी अनुशासन समाप्त हो जाए तो जीवन समाप्त हो जाए। जीवन और अनुशासन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। हम कल्पना ही नहीं कर सकते कि अनुशासनविहीन व्यक्ति साठ मिनट भी जी सकता है, किन्तु जहां हम अनुशासन की मीमांसा करते हैं वहां उसका अर्थ बदल जाता है, एक विशेष परिभाषा बन जाती है।

अनुशासन का अर्थ

अनुशासन का अर्थ है—अपने आप पर नियंत्रण, जो किसी दूसरे को कोई बाधा न पहुंचाए, किसी के मार्ग में रोड़ा न बने। अपना हित पूरा सधे और किसी दूसरे का अहित न हो। यह अनुशासन एक विशेष बात है। ऐसा अनुशासन अपने आप पर करना, दूसरे पर करना या मिल-जुल करना—ये तीनों अपेक्षित हैं। अपने पर भी करना और दूसरे का भी मानना। अपने पर अनुशासन समाज का प्रत्येक प्राणी करता है। इसका लौकिक मूल्य भी है और आध्यात्मिक मूल्य भी है।

व्यापक संदर्भ

स्थानांग सूत्र में अनुशासन के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—

१. स्व-अनुशासन
२. पर-अनुशासन
३. तदुभय अनुशासन।

अनुशासन के प्रश्न पर हम व्यापक संदर्भ में विचार करें। अपने पर अनुशासन करने का मतलब है वीतरागता की दिशा में प्रस्थान। जितना वीतरागता का भाव बढ़ता चला जाएगा उतना अपने आप पर अनुशासन होता चला जाएगा। पर-अनुशासन में वीतरागता की बात गौण होती है। क्योंकि वीतराग कभी अनुशासन नहीं कर सकता। जो वीतरागता के

पहले बिन्दु से चले और वीतरागता के अन्तिम बिन्दु पर पहुंच जाए, वह अपने पर अनुशासन कर सकता है। वीतराग कभी अनुशासक नहीं बन सकता। वह तो आत्मानुशासित हो सकता है। अनुशासी वीतराग नहीं हो सकता। इसीलिए श्वेताम्बर संप्रदाय में यह मान्यता हुई—गौतम को आचार्य नहीं बनाया गया, सुधर्मा को आचार्य बनाया गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार प्रथम आचार्य बने गौतम। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पहले आचार्य बने सुधर्मा। कारण बताया गया—गौतम केवली हो गए। केवली आचार्य नहीं बन सकता इसलिए सुधर्मा को आचार्य बनाया गया।

तीसरी भूमिका

जहां परानुशासन का प्रश्न है वहां वीतराग को अनुशासक नहीं बनाया जा सकता। जो दूसरे पर अनुशासन करे, उसको मध्यस्थ होना चाहिए। उसका राग और द्वेष निरंकुश न हो, उसका अपने राग और द्वेष पर अंकुश हो, वह वीतराग न हो, किन्तु मध्यस्थ हो। व्यक्ति इस अवस्था में हो तो वह दूसरे पर अच्छा अनुशासन कर सकता है।

तीसरी भूमिका है तदुभय अनुशासन की। कुछेक ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपना अनुशासन भी रखते हैं किन्तु सबको साथ ले चलने के लिए। एक व्यक्ति अपने पर अनुशासन रख सकता है। वह सौ व्यक्तियों के साथ चले या उनको चलाए, यह अपने अनुशासन से संबंधित बात नहीं है। इसमें एक डोर की भी जरूरत होती है। एक ऐसे धागे की जरूरत है, जो सौ मनकों को एक धागे में पिरो दे। एक ऐसा व्यक्तित्व, जो धागे का काम करे, वहां तदुभय अनुशासन सफल होता है। माला तदुभय अनुशासन का उदाहरण है।

कठिन है अनुशासन करना

अनुशासन की ये तीन श्रेणियां बनती हैं। दूसरे पर अनुशासन करना कठिन काम है, दूसरे की बात को मानना-सुनना भी बहुत कठिन काम है। प्रत्येक व्यक्ति भावों से घिरा हुआ है। भाव या कषाय का ज्वार मस्तिष्क में इतना भयंकर चलता है कि व्यक्ति अनुशासन रख नहीं पाता। प्रत्येक व्यक्ति में भावों का एक भयंकर ज्वार होता है। उस ज्वार पर अनुशासन करना, नियंत्रण करना बहुत कठिन बात है। उसमें वीतरागता या मध्यस्थता वाली बात ही नहीं चलती। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो अनुशासन के साथ पुण्य का संबंध भी जुड़ता है। यदि व्यक्ति का पुण्य प्रबल है, तो उसमें अनुशासन करने की क्षमता आती है। यदि पुण्य प्रबल नहीं है, विघ्न-बाधाएं हैं तो उसका अनुशासन कोई नहीं मानता।

प्रभाव की दुनिया

अनुशासन का प्रश्न केवल आध्यात्मिकता से जुड़ा हुआ नहीं है। बड़े-बड़े योगी और भक्त हुए हैं, उन्होंने लंबी-लंबी तपस्याएं भी की हैं पर उन्होंने अनुशासन नहीं किया। वे केवल भक्ति रस में डूबे रहे। जहां हजार-लाख व्यक्तियों को साथ लेकर चलने का प्रश्न आता है वहां पुण्य की बात को जोड़ना ही पड़ेगा। वहां आध्यात्मिकता, वीतरागता या कोरी मध्यस्थता काम नहीं देगी। सौरमंडल अपना प्रभाव डालता है। यह पढ़कर आश्चर्य हुआ—जयाचार्य जब आचार्य नहीं बने थे तब छोटे और दुबले पतले लगते थे। लोग सोचते थे—ये काम कैसे चलाएंगे? जब आचार्य बने, अनुशास्ता बने तब ऐसा लगा—उनका पुण्योदय भी प्रबल है। वे अनुशासन के प्रतीक बन गए। हम इस बात को न भूलें—अनुशासन के साथ आंशिक वीतरागता हो, कम से कम अपने राग-द्वेष की उच्छूलता न हो। इतनी स्थिति अनिवार्य है एक अनुशासन करने वाले व्यक्ति के लिए भी। उसका अन्तिम बिन्दु बनता है मध्यस्थता। साथ में पुण्य का योग भी होना चाहिए। तब कहीं अनुशासन आत्मानुशासन बनता है, अपने पर अनुशासन आता है।

आत्मोत्सर्ग

भक्त निमाई और पंडित रघुनाथ—दोनों मित्र थे। एक बार वे नदी की ओर जा रहे थे। निमाई भक्त भी थे और विद्वान् भी थे। दोनों नदी को पार कर रहे थे। निमाई ने कहा—‘पंडितजी! मैंने न्याय का ग्रन्थ लिखा है। आपको सुनाऊं?’

‘सुनाओ।’

निमाई ने ग्रन्थ सुनाया। पंडितजी रोने लग गए।

निमाई ने पूछा—‘मित्रवर! यह क्या? आपको अच्छा नहीं लगा?’

‘बहुत अच्छा लगा।’

‘फिर ये आंसू क्यों?’

‘मैंने भी एक न्याय का ग्रन्थ लिखा है। मैंने सोचा—मेरा ग्रन्थ अप्रतिम और अद्वितीय होगा। इससे बढ़िया संसार का और कोई ग्रन्थ नहीं होगा। तुम्हारे ग्रन्थ को सुनकर लगा—मेरा ग्रन्थ इसके आगे कुछ भी नहीं है। मुझे हर्ष भी हुआ और विषाद भी। मेरे रोने का यही कारण है।’

भक्त निमाई ने ग्रन्थ को फाड़ा और नदी में फेंक दिया।

इतना आत्मोत्सर्ग हर व्यक्ति कर नहीं सकता। सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ को अपने मित्र के लिए फाड़कर नदी में फेंक देना, यह था आत्मोत्सर्ग। आत्मोत्सर्ग के बिना आत्मानुशासन आ नहीं सकता। कौन व्यक्ति अपना कितना उत्सर्ग कर सकता है, बलिदान कर सकता है। वह तभी संभव

बनता है जब पुण्योदय प्रबल होता है। अगर विघ्न और बाधाएं होतीं तो ऐसी बात आदमी सोच भी नहीं सकता।

चार बातें

जहां आत्मोत्सर्ग की बात है वहां आत्मानुशासन, परानुशासन और तदुभय अनुशासन—तीनों विकसित होते हैं। तदुभय अनुशासन में मध्यस्थता है, अपने पर अंकुश है तो साथ-साथ में कला और पुण्योदय भी है। उसमें पुण्योदय भी चाहिए और चातुर्य भी चाहिए। अनुशासन के लिए ये चार बातें अपेक्षित हैं—

१. अपने पर नियंत्रण यानि अपने राग-द्वेष पर पर्याप्त अंकुश।

२. पुण्योदय

३. कला या चातुर्य

४. मध्यस्थता।

इन चारों का योग मिलता है तब 'तदुभय अणुशिष्टि' की बात संभव बनती है।

तेरापंथ : अनुशासन

तेरापंथ घमंसंघ में आचार्य तदुभय अनुशिष्टि का दायित्व निभाता है किन्तु यदि साधु-साध्वियां आत्मानुशासन का दायित्व न निभाए तो आचार्य किस पर अनुशासन करेगा? संघ तब चलता है, जब उसमें आत्मानुशासन का मादा होता है। संघ का प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका अपने पर भी अनुशासन रखना जानता है और अनुशासन को आगे बढ़ाना चाहता है। ऐसा होता है तब अनुशासन तेजस्वी बनता है। यह आत्मानुशासन की पहली शर्त है। अगर यह नहीं है तो परानुशासन की बात भी नहीं आएगी। पहले अनुशासन चाहने वाली बात होनी चाहिए। जो व्यक्ति जिस बात को चाहता ही नहीं है, वह कैसे सम्भव होगी? सबसे पहली बात है, अपने आप पर अनुशासन करना सीख लेना। वही संघ अच्छा चल सकता है, जिसके सदस्य आत्मानुशासी होते हैं, जितनी सीमा तक अपने पर नियंत्रण रखना होता है, उस सीमा को जानते हैं, उस सीमा का अनुपालन करते हैं।

आत्मानुशासन : परानुशासन

सबसे बड़ी बात है—ऐसी क्षमता पैदा करना, योग्यता पैदा करना, भूमिका का निर्माण करना, जिससे संगठन का प्रत्येक सदस्य अपने दायित्व का निर्वहन करे, अपने आप पर अनुशासन करना सीखे। यह बात आती है तो मूल बात ठीक हो जाती है। दूसरे अनुशासन की जरूरत भी रहती है। लक्ष्य तो है अपने पर अनुशासन करने का किन्तु प्रमाद के कारण, अज्ञान के

कारण कहीं चूक या भूल हो सकती है, कहीं परस्परता में अंतर आ सकता है। इस स्थिति में ऊपरी अनुशासन भी चाहिए, जो उसे फिर समरस बना सके। इसलिए परानुशासन भी जरूरी है संगठन के लिए। कोरा आत्मानुशासन अकेले में ही हो सकता है किन्तु कोरा परानुशासन संघ के लिए नहीं हो सकता। धर्मसंघ के लिए तदुभय अनुशासन अपेक्षित है। आत्मानुशासन और परानुशासन—दोनों का मिला-जुला रूप है तदुभय अनुशासन। कुछ व्यक्ति आत्मानुशासी होते हैं और कुछ परानुशासी। जो आत्मानुशासन और परानुशासन दोनों से युक्त है, वह संघ की वृद्धि एवं प्रगति के लिए उपयुक्त है।

आत्मानुशासकः कश्चित्, कश्चित् परानुशासकः।

द्वयानुशासको युक्तः, गणसंततिवृद्धये ॥

हम स्वयं आत्मानुशासी बनें, आत्मानुशासन के साथ-साथ एक अनुशासन ऐसा रहे, जो आत्मानुशासन को अधिक बल दे सके, उसका विकास कर सके। यह वांछनीय है और इसी के आधार पर धर्मसंघ या समाज प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

तीन मनोरथ

सारे विश्व में पर्यावरण प्रदूषण की चर्चा है। ऐसा लगता है— प्रदूषण घट नहीं रहा है, बढ़ रहा है। कारण यह है—प्रदूषण को मिटाने का संकल्प जागा नहीं है। संकल्प नहीं जागा, इसलिए बदलाव नहीं आया। संकल्प जागे तो बदलाव आ जाए। प्रश्न पर्यावरण प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण या मानसिक प्रदूषण का नहीं है, मूल प्रश्न है संकल्प का। हमारा संकल्प जगा या नहीं जगा ?

संकल्प और संयम

भगवान् महावीर ने संकल्प पर बहुत बल दिया। यह स्वाभाविक है—जो व्यक्ति संयम को मूल्य देगा, उसे संकल्प को मूल्य देना ही होगा। संकल्प और संयम—दोनों एक साथ चलते हैं। संकल्प के बिना संयम नहीं होता और संयम के बिना संकल्प नहीं होता।

जब संकल्प जागता है तब मनुष्य जाग जाता है, उसकी कार्यशक्ति जाग जाती है। जहाँ यह जागृति है, वहाँ निश्चित सफलता मिलती है। हम इस सच्चाई को समझें—जहाँ संकल्प है वहाँ कौसी विफलता ! जहाँ असंकल्प है, वहाँ कौसी सफलता !

संकल्पो नाम जागति, जागति मानवस्तथा ।

असंकल्पेष्व साफल्यं, व्व संकल्पे तथा परम् ॥

मनोरथ है हमारा संकल्प। जो आदमी संकल्प करता है, मनोरथ करता है, वह उसी दिशा में आगे बढ़ना शुरू हो जाता है। आदमी की मनोभावना का पता लग जाता है। व्यक्ति के मन में क्या संकल्प हो रहा है, यह जानना आसान है। वह अपने आप संकल्प को गुनगुनाता है, दोहराता है।

आचार्य का काम

आचार्यश्री का चतुर्मास श्रीङ्गरगढ़ में था। आहार के बाद मैं आंगन को साफ कर रहा था और यह पद गुनगुना रहा था—‘वा दशा किण दिन आवसी’। मुनि दुलीचन्दजी ने कहा—आप क्या कह रहे हैं, वह समय कब आएगा ? जब यह आंगन साफ करना छूट जायेगा तब वह समय आएगा।

यह जीवन का बहुत बड़ा सूत्र है। कब ऐसा होगा ? हम इस प्रतीक्षा में लग जाएं कि वह दशा कब आएगी ? फिर कोई प्रदूषण रहने वाला नहीं है। यह संकल्प जागना चाहिए किन्तु व्यक्ति अपना संकल्प जगाए, यह बड़ा मुश्किल काम है। नेता या आचार्य वही है, जो संकल्प जगा सके। आचार्य संघ में संकल्प जगा सके तो एक साथ काम हो जाता है और नेता राष्ट्र में संकल्प जगा सके तो एक साथ काम हो जाता है। राष्ट्र की विशाल सेना है, उसके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र हैं, वह लड़ती है पर विजय का यह प्रमुख कारण नहीं होता। उसका कारण बनता है विजय के संकल्प को जगाना।

संकल्प है मनोरथ

प्रश्न होता है—मनोरथ क्या है ? हमारे संकल्प का जागरण ही मनोरथ है। सबसे बड़ी बात है संकल्प का जाग जाना। हमारा ध्यान टिकता नहीं है इसलिए संकल्प जागता नहीं है। उसके न जागने में मन की चंचलता बड़ा कारण है। जब तक हम मानसिक क्रिया के साथ चलेगे तब तक हमारा संकल्प मजबूत नहीं बनेगा। जो ध्यान मन से जुड़ा हुआ है, उसकी स्थिति भी बड़ी विचित्र होती है। मानसिक क्रिया के विश्लेषण के संदर्भ में ध्यान को तीन भागों में बांट दिया गया। पहली बात है ग्राहक प्रक्रिया। कोई इन्द्रिय किसी बात को ग्रहण करती है और उसी बात पर हमारा ध्यान टिक जाता है। कोई चीज देखी और उस पर ध्यान टिक गया। पहले ग्रहण का काम होता है। दूसरी है चुनाव की प्रक्रिया। जब दो-तीन वस्तुएं सामने आ जाती हैं, तब आदमी चयन करता है—इनमें से मुझे कौनसी ग्रहण करनी है ? तीसरी है प्रेरणात्मक प्रक्रिया या गत्यात्मक प्रक्रिया। प्रेरणा किसकी आ रही है ? कौन भीतर काम कर रहा है ? इसका बोध होने पर ध्यान की सफलता संभव बनती है।

तीन मनोरथ

महावीर ने मुनि के तीन मनोरथ बतलाए—

१. कब मैं अल्पश्रुत या बहुश्रुत का अध्ययन करूंगा ?
२. कब मैं एकलविहार प्रतिमा का उपसंपादन कर विहार करूंगा ?
३. कब मैं मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा न करता हुआ विहरण करूंगा ?

पहला चुनाव किया श्रुत का। दूसरा चुनाव किया एकलविहार प्रतिमा का। एक सार्थक दिशा है—मुनि के लिए अकेला होना अच्छी बात

है। अकेला कौन हो सकता है ? जो श्रुत से ससहाय हो गया, वह बाहर में असहाय हो सकता है। जब तक श्रुत का सहारा नहीं मिलेगा तब तक कोई भी असहाय या ससहाय नहीं हो सकेगा। इस निरालंब गगन में, जीवन में कोई सबसे बड़ा सहारा है, तो वह है श्रुत का। अनुभवों का, विचारों का एक ऐसा बड़ा खजाना है। कहीं भी कठिनाई आए तो उसमें से समाधान निकल आएगा। यह श्रुत राशि—ज्ञान राशि हमारा सहयोग करती है। आदमी को कैसे जीना है ? कहां जाना है ? क्या करना है ? सबके लिए प्रकाशदीप का स्तंभ लिए खड़ा है हमारा श्रुत ज्ञान। एक प्रेरणा बार-बार दी जाती है—दशवैकालिक सूत्र पढ़ो, चितारो। इसका अर्थ है—एक दशवैकालिक सूत्र पढ़ने से पचासों मित्र मिलेंगे। मित्र का काम है कठिनाई में साथ देना। ब्रह्मदत्त को एक मित्र मिला था, जो लाक्षागृह से उसे बचा लाया। एक सूत्र में न जाने हमारे कितने मित्र बैठे हैं। यदि उत्तराध्ययन को कंठस्थ करके उस पर मनन कर लिया तो मित्रों का संसार बसा लिया। यह है श्रुत का आलंबन।

अकेला होना

दूसरी बात है अकेला होना। जिसे श्रुत का आलंबन मिल गया, वह अकेला हो गया। अकेले का मतलब जंगल में चले जाना नहीं है। यद्यपि इसका एक अर्थ यह भी रहा है। प्राचीनकाल में साधना का यह एक प्रकार था। जंगल में जाकर अकेले में साधना की जाती थी। ये मनोरथ सब प्राचीनकाल के हैं पर यह जरूरी नहीं है कि तीन ही मनोरथ हों। नये मनोरथ भी पैदा किए जा सकते हैं। मनोरथ का मतलब है, एक ऐसा रास्ता या पथ, जिस पर चलते रहें। यदि हमें सफल जीवन जीना है तो मनोरथ के साथ चलें, मनोरथ के साथ जीएं।

समाधिमरण

जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है—समाधिमरण। यह साधना के उत्कर्ष की स्थिति है। इतना बड़ा संकल्प दे दिया कि मुझे मरना कैसे है ? समाधिमरण कैसे करना है ? मरते समय कैसी स्थिति रहे ? आचार्य भिक्षु ने कहा था—उणायत कोई रही नहीं—मेरे मन में उणायत नहीं रही, कमी का अनुभव नहीं रहा। यह स्थिति आ जाए। मरते समय यह न आए कि इसका क्या होगा ? उसका क्या होगा ? वह क्या करेगा ? पीछे क्या होगा ? यह चिन्ता का विषय नहीं होता। जो सबके साथ होता है, पीछे वही होगा, कोई नई बात नहीं होगी। आचार्य भिक्षु का यह सूत्र—
‘मन में कोई उणायत रही नहीं’—एक आलोक दीप है। इस स्थिति में जो मरता है, उसका जीवन सफल बन जाता है। यदि मरते समय मन में कुछ बातें रह जाती हैं तो वे रह ही जाती हैं।

श्रावक के मनोरथ

महावीर ने जीना सिखाया तो साथ-साथ मरना भी सिखाया। स्वाध्याय का संकल्प, अकेला होने का संकल्प और समाधिमरण का संकल्प— इन तीनों का संकल्प जीवन को एक-एक सोपान भागे बढ़ाता चला जाता है।

श्रावक का भी संकल्प होता है, मनोरथ होता है। महावीर ने श्रावक के तीन मनोरथ बतलाए हैं—

१. कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूंगा ?

२. कब मैं आगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होऊंगा ?

३. कब मैं अपश्चिममारणान्तिकी संलेखना की आराधना से युक्त होकर प्रायोपगमन अन्तशनपूर्वक मृत्यु की आकांक्षा न करता हुआ विहरण करूंगा ?

संकल्प जगाएं

पहला मनोरथ है परिग्रह के त्याग का। आज के आर्थिक युग में परिग्रह को छोड़ने के स्थान पर परिग्रह को बढ़ाने की बात सोची जा रही है। परिग्रह की आकांक्षा से अनेक समस्याएं उलभ रही हैं। चिन्ता, भय, बीमारी—ये सब परिग्रह और आसक्ति के परिणाम हैं। यदि परिग्रह को छोड़ने की भावना जागे तो अनेक समस्याएं सुलभ जाएं। इस संदर्भ में महावीर ने श्रावक और मुनि के लिए मार्गदर्शन दिया। उसके आधार पर श्रावक और मुनि अपने-अपने मनोरथ बनाएं, संकल्प जगाएं, जिससे जीवन का विकास हो सके, समाधिमरण का विकास हो सके, मारणान्तिक प्रक्रिया का विकास हो सके। जीवन और मरण—दोनों सफलता के सूत्र हैं। इनका मूल्यांकन मनोरथ को बलवान् बनाकर किया जा सकता है।

तीन चक्षु

चक्षुष्मान

जितना भी वैभव है, उसमें सबसे बड़ा वैभव, सबसे बड़ी शक्ति है—चक्षु। अगर चक्षु है तो सबका स्वरूप है। अगर चक्षु नहीं है तो स्वरूप भी हमारे लिए अरूप है, साकार भी अनाकार है। साकारदृष्टि मनुष्य के लिए रमणीय होती है। अनाकार है पर वह हमारे लिए कुछ भी नहीं है। वह हमें बोधगम्य नहीं होता। वह हमारे ज्ञान की पकड़ में नहीं है। यह बदलता हुआ स्वरूप साकारदृष्टि का है। रमणीयता, भव्यता यह सारा बदलने में है, परिवर्तन होने में है। जितना परिवर्तनशील है, नश्वर है, वह सब साकार है। अगर एक चक्षु नहीं है तो व्यक्ति के लिए सारा जगत् बेकार है। जगत् का उसके लिए कोई अर्थ नहीं होता, इसलिए चक्षु को, चक्षुष्मान् को बहुत महत्व दिया गया।

प्रत्येक आदमी अपनी आंखों पर भरोसा करता है और सब कुछ जान लेता है। यदि आंख न हो, तो प्रत्येक चीज में कठिनाई का अनुभव होगा। उसके अभाव में सब एकामेक हो जाता है। आज के युग में तीसरे नेत्र की बहुत चर्चा चली है। इस पर तिब्बती और भारतीय साहित्य में काफी लिखा गया। स्थानांग सूत्र में चक्षुष्मान् के तीन प्रकार बतलाए गए हैं^१—

१. एक चक्षु

२. द्विचक्षु

३. त्रिचक्षु ।

छद्मस्थ मनुष्य एक चक्षु होता है ।

देवता द्विचक्षु होते हैं ।

अतिशायी ज्ञान-दर्शन को धारण करनेवाला त्रिचक्षु होता है ।

एक चक्षु

प्रत्येक आदमी के दो आंखें होती हैं, किन्तु सूत्रकार के अनुसार एक ही आंख है। आंखें दो हैं पर आकार-प्रकार में अन्तर नहीं। दोनों आंखें परोक्ष हैं। प्रत्यक्ष का ज्ञान किसी भी आंख को नहीं है। आंखों देखी बात

पर बड़ा भरोसा होता है। व्यक्ति विश्वास एवं बल के साथ कहता है—अमुक घटना को मैंने आंख से देखा है। वस्तुतः वह परोक्षतः देखता है, प्रत्यक्षतः तो जान भी नहीं सकता। आदमी आंखों से भी स्थिति को नहीं देख सकता। हमारा देखने का कोण बदलता है, प्रकार बदलता है तो दृश्य भी बदल जाएगा। वास्तव में जो दृश्य हम देख रहे हैं, वह वैसा ही है, यह कहना बड़ा कठिन है। एक व्यक्ति एक दृश्य को हजार प्रकार का देख लेता है और हजार कोणों से देख लेता है। आंख का काम है देखना, पर देखने की हमारी शक्ति है परोक्ष। हम साक्षात् या प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसलिए सूत्रकार ने इस आशय को पकड़ा—एगचक्षु छउमत्थे—जो छदमस्थ है, जिसके पास अतीन्द्रिय चेतना विकसित नहीं है, वह व्यक्ति एक आंख वाला है। आकार से तो दो आंखें हैं पर प्रकार से एक ही आंख है—परोक्षदर्शी।

एकचक्षु का मतलब है परोक्षदर्शी। वह प्रत्यक्ष और साक्षात् को देखने वाला नहीं है। वह न सूक्ष्म को देख सकता है, न व्यवहित को देख सकता है और न दूरस्थ वस्तु को देख सकता है। उसकी एक निश्चित सीमा है, वह उस निश्चित परिधि में ही देख सकता है। आगम में सभी को एक आंख वाला माना गया है। एक आंख का मतलब है—प्रत्यक्ष को न देखने वाली आंख।

देवता हैं द्विचक्षु

प्रश्न है—दो आंख किसके पास है? देवता को दो चक्षु वाला बतलाया गया है। उनमें अवधिज्ञान का और विकास होता है। उनमें अतीन्द्रिय ज्ञान है। कहा गया—देवा अवधिचक्षुषः—देवता अवधिचक्षु वाले हैं। देवताओं के वैक्रिय शरीर में भी इन्द्रियां होती हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है। वे निरन्तर अवधिज्ञान से नहीं देखते। जब कोई विशेष बात देखनी होती है तब अवधिज्ञान का प्रयोग करते हैं। सामान्य जीवन में प्रत्यक्ष आंख को ही काम में लेते हैं। इसलिए उन्हें दो आंख वाला कहा गया है। एक आंख तो प्रत्यक्ष को देखने के लिए है और दूसरी परोक्ष को देखने के लिए है।

तीन चक्षु

तीन चक्षु वाला कौन है? यह बड़ा विकट प्रश्न है। कहा गया—उत्तम ज्ञान, दर्शनधर तीन आंख वाला होता है। यह विशेषण सामान्यतः केवलज्ञानी के लिए ही होता है। जो सर्वज्ञ बन गया, केवलज्ञानी बन गया, उसे तीन आंख वाला मानें, यह उलझन भरी बात है। केवली के एक आंख हो जाती है। तीन आंखें कैसे मानें? सारे ज्ञान उसी एक आंख में समाहित हो जाते हैं। केवलज्ञानी के लिए कहना चाहिए—सर्वचक्षुषः।

सिद्ध को सर्वचक्षु कहा गया है। जब केवलज्ञान होता है तब पूरा शरीर विकसित हो जाता है। नन्दी सूत्र के अनुसार केवलज्ञानी का पूरा शरीर ही प्रकाशमय बन जाता है। अवधिज्ञान के लिए चार मर्यादाएं बतलाई गईं—

पुरओ अंतगर्भं—सामने से होनेवाला अवधिज्ञान।

मगओ अंतगर्भं—पीछे से होनेवाला अवधिज्ञान।

पासओ अंतगर्भं—पार्श्व से होनेवाला अवधिज्ञान।

मज्जगर्भं—ऊपर से होनेवाला अवधिज्ञान।

उत्पन्न होता है ज्ञान

अवधिज्ञानी आगे से, पीछे से, दाएं-बाएं से और ऊपर से भी देख सकता है। प्रेक्षाध्यान में आनंद केन्द्र पर प्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है। सुभाव दिया जाता है—आनन्द केन्द्र पर ध्यान करें। जैसे बिजली का प्रकाश एक दिशा में जाता है वैसे ही चित्त को आगे से पीछे तक एक दिशा में ले जाएं। जब ज्ञानकेन्द्र और शांतिकेन्द्र पर ध्यान कराया जाता है, तब सुभाव दिया जाता है—जैसे दीपक का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है, वैसे ही चित्त को चारों दिशाओं में फैलाएं। यह सब होता है, एक सीमा के साथ। जब केवलज्ञान होता है तब पूरा शरीर एक साथ प्रकाशित हो जाता है। वह सर्वतः चक्षु है। उसे त्रिचक्षु कैसे माना जाए? यह बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। चूर्णिकार ने बहुत सुन्दर परिभाषा की है—**पण्णं आयसमुत्थं नाणं**—ज्ञान आत्मा से पैदा हुआ है, वह कहीं से आया नहीं है, पढ़ा नहीं गया है। जो पढ़ा जाता है, वह गृहीत ज्ञान होता है और यह उत्पन्न ज्ञान है। वह तीन चक्षुवाला है, जिसका मतिज्ञान भी विशिष्ट बन गया, श्रुतज्ञान भी अतिशायी बन गया और अवधिज्ञान भी अतिशायी बन गया। वह होता है त्रिचक्षु—तीन आंख वाला।

उद्घाटन कैसे हो

हमारे सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—आंख कैसे खुले? चक्षु का उद्घाटन कैसे हो? यह मान लिया गया—एक आंख होती है, दो आंखें होती हैं और तीन आंखें भी होती हैं। हमारे पास एक आंख है। हम कम से कम दो आंख वाले तो बनें। हमें तो तीन आंख वाला बनना चाहिए क्योंकि हमारे सामने मतिज्ञान का विषय है, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का विषय भी है। किन्तु जब तक हमारा ध्यान बाहर ही बाहर रहेगा तब तक 'उत्पन्न ज्ञानदर्शनधर' वाली बात कभी संभव नहीं होगी, भीतर से ज्ञान पैदा होने वाली बात कभी संभव नहीं होगी, दो चक्षु या तीन चक्षु वाली बात कभी संभव नहीं होगी। देवता के दो चक्षु भवप्रत्ययी होते हैं, जन्मजात होते हैं, किन्तु अपनी साधना के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह हमारी उपलब्धि

है। प्राचीन साहित्य में आठ सिद्धियों का वर्णन मिलता है। आज भी वे सिद्धियाँ हैं। वे सिद्धियाँ एकाग्रता और अभियोजना के साथ प्राप्त होती हैं। इसमें कोरी एकाग्रता काम नहीं करती। जैसे किसी को देखना है, तो पहले ज्ञेय का निर्धारण करें, फिर ज्ञेय के साथ सम्बन्ध स्थापित करें, तादात्म्य जोड़ें और लंबे समय तक जोड़े रखें। उसी दिशा में हम देखते चले जाएं तो भीतर बैठे-बैठे हम उसे देख सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। किसी ने शब्द-सिद्धि कर ली। उसे तत्काल समझ में आ जाएगा—इसके पीछे क्या है? भागे क्या है? यह अनुभव की बात है। यदि अतीन्द्रिय चेतना का विधि के साथ कोई ठीक प्रयोग करे तो वह निश्चित प्राप्त हो सकती है।

तादात्म्य : लक्ष्य के साथ

कोरी एकाग्रता, कोरा ध्यान पर्याप्त नहीं है। पहले लक्ष्य का निर्धारण करना होगा—मुझे क्या पाना है? अपनी शक्तियों को कहां लगाना है? ध्यान के साथ जुड़ जाता है लक्ष्य का निर्धारण, लक्ष्य के साथ तादात्म्य। वस्तुतः अन्तरात्मा में अपनी सारी चेतना को ले जाएं, ठीक लक्ष्य का निर्धारण करें, उसी दिशा में प्रयोग करें, आत्मविश्वास के साथ करें तो एक दिन अवश्य उस लक्ष्य तक पहुंच जाएंगे। इसमें कोई संदेह नहीं। स्थानांग सूत्र का यह महत्त्वपूर्ण वाक्य है—एक चक्षु, दो चक्षु, तीन चक्षु। साधु को आगम चक्षु कहा गया। यदि हम एक आगम चक्षु भी बन जाएं तो दूसरे चक्षु स्वतः खुल जाएंगे। हमें वह आंख मिलेगी, वह दृष्टि मिलेगी, जिसकी उपलब्धि इन चर्म-चक्षुओं से कभी नहीं हो सकती।

कितना विशाल है कषाय का जगत् !

टूट रही है ओजोन परत

एक महासमुद्र, जिसकी कुछेक ऊर्मियां ऊपर उठती हैं और सारे विश्व में अपना प्रभाव डाल जाती हैं। यह सारा विश्व कभी हंसता है, कभी रोता है। कभी हर्ष, कभी शोक। यह उस महासमुद्र की ऊर्मियों का प्रभाव है। वे जब जब ऊपर उठती हैं, सारे संसार को अपनी चपेट में ले लेती हैं।

कहा जाता है—समुद्र का जलमान बढ़ रहा है। एक दिन ऐसा समय आएगा, बड़े-बड़े नगर उसकी चपेट में आ जाएंगे। यह जलमान बढ़ रहा है ओजोन परत के टूटने के कारण। जैसे-जैसे ओजोन परत टूटती जा रही है, तापमान बढ़ता जा रहा है। समुद्र का जलमान ऊपर उठ रहा है। एक तापमान हर व्यक्ति के भीतर है और वह कब से ही उसकी ओजोन की परत को खंड-खंड कर रहा है। इतना गहरा तापमान प्रत्येक व्यक्ति के भीतर बँठा है। ऐसा कोई व्यक्ति मुश्किल से मिलेगा, जिसका तापमान घटे-बढ़े नहीं। उसी स्थिति में ये सारी घटनाएं घटित होती हैं। वह है भावों का महासागर, उसमें उतार-चढ़ाव आता रहता है।

भावों की दुनिया

हमारा सारा जीवन भाव का जीवन है। अगर भाव को जीवन से निकाल दें, तो फिर इमशान की शांति, मृत्यु की शांति और आकाश की शांति में कुछ भी अन्तर नहीं होगा। जीवन में भावों का विकास इन सभी उतार-चढ़ावों का विकास है। एक प्रकार से सारी दुनिया भावों की दुनिया है। अगर भाव नहीं होता तो काव्य नहीं होता। भाव नहीं होता तो कोई साहित्य नहीं होता, न स्थायी, सात्त्विक और संचारी परिवर्तन हो पाता। जितना आंगिक परिवर्तन है, मानसिक परिवर्तन है, वह भाव का परिवर्तन है। भाव पीछे रहता है, आगे दूसरी अभिव्यक्ति आ जाती है। शरीर में परिवर्तन आता है भाव से। जैसा भाव वैसी रचना। कभी भृकुटि तन जाती है, तो आंख में लाल डोरे पड़ जाते हैं। कभी भृकुटि शांत रहती है तो आंख में से अमृत टपकने लग जाता है। यह भृकुटि का तनाव, पैरों की गति का परिवर्तन जितना भी होता है, सब भावों के कारण होता है। हमारे भाव का

इतना बड़ा जगत् है ! अध्यात्म-विज्ञान में भावों को समझे बिना जीवन की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती । जैसे मनोविज्ञान में मन को समझे बिना व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं की जा सकती, वैसे ही अध्यात्म-विज्ञान में भावों को समझे बिना जीवन और व्यक्तित्व की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती ।

व्यक्तित्व : व्याख्यासूत्र

व्यक्तित्व की व्याख्या का सूत्र है—भावों का परिवर्तन । इन भावों को जैनाचार्यों ने दो भागों में विभक्त किया—रागात्मक भाव और द्वेषात्मक भाव । इसका विस्तार चार भागों में हो गया—

१. रागात्मक भाव
२. द्वेषात्मक भाव
३. मायात्मक भाव
४. लोभात्मक भाव ।'

यह सारा है भाव का जगत् । अप्रिय घटनाएं क्यों घटती हैं ? भाव का उद्वेग, भाव का आवेश उभरता है, हिंसक घटनाएं घट जाती हैं । जितनी भी असामाजिक प्रवृत्तियां होती हैं, उनके पीछे काम कर रहा है भाव । भाव को समझना बहुत कठिन है पर बहुत जरूरी भी है । बच्चे को कोई कड़वी दवा दी जाए, वह लेता नहीं है । वह मीठी दवा को पसंद करता है । जब मीठी चीज पसंद करता है तब कड़वी लेने की जरूरत भी पड़ जाती है ।

समान नहीं है अभिव्यक्ति

भाव को समझने के लिए स्थानांग सूत्र में बहुत व्याख्याएं की गई हैं । एक बहुत बड़ा प्रकरण है—भाव का तारतम्य कैसा होता है ? सब व्यक्तियों में भाव एक रूप नहीं होता । किसी में भाव प्रबल, किसी में मंद और किसी में मध्यम होता है । भाव की मृदु, मध्य और अधिक मात्रा होती है । उन मात्राओं के कारण यह सारा तारतम्य दिखाई दे रहा है । एक परिवार में एक व्यक्ति क्रोधी है, वह सारे परिवार को तिलमिला देता है । दूसरा बहुत शांत है, तीसरा मध्यम है । दस व्यक्ति हैं तो दस प्रकार का तारतम्य मिल जाएगा । भावों की अभिव्यक्तियां सबमें समान नहीं होतीं और भावों के स्पंदन भी सबमें समान नहीं होते ।

चार प्रकार का पानी

तरतमता के साथ हमारे भाव काम करते हैं । भावों की लिप्तता-

अलिप्तता तथा मलिनता-निर्मलता की तरतमता को समझाने के लिए जल के आधार पर स्थूल वर्गीकरण किया गया—

१. कर्दम का जल

२. खंजन का जल

३. बालु का जल

४. पर्वत का जल ।

कर्दम के चिमटने पर उसे उतारना कष्टसाध्य होता है । खंजन को उतारना उससे अल्प कष्टसाध्य होता है । बालुका लगने पर जल के सुखते ही वह सरलता से उतर जाता है । शैल (प्रस्तरखंड) का लेप लगता ही नहीं ।

इसी प्रकार मनुष्य के कुछ भाव कष्टसाध्य लेप उत्पन्न करते हैं, कुछ अल्प कष्टसाध्य, कुछ सुसाध्य और कुछ लेप उत्पन्न करते ही नहीं ।

कर्दम जल की अपेक्षा खंजनजल अल्पमलिन, खंजनजल की अपेक्षा बालुकाजल निर्मल और बालुकाजल की अपेक्षा शैलजल अधिक निर्मल होता है ।

इसी प्रकार मनुष्य के भाव भी मलिनतर, मलिन, निर्मल और निर्मलतर होते हैं ।

अस्तित्व और आसक्ति

वर्तमान की हिसक घटनाओं का विश्लेषण करें । ऐसा लगता है—कुछ गहरे संस्कार जमा दिए गए । धारणा इतनी रूढ़ बना दी गई कि धर्म या संप्रदाय को आसक्ति के साथ जोड़ दिया गया । कहा गया—यह आसक्ति टूटी तो तुम्हारा धर्म भी टूट जाएगा, संप्रदाय भी टूट जाएगा, तुम्हारा अस्तित्व भी टूट जाएगा । अस्तित्व के साथ आसक्ति को जोड़ दिया गया । अस्तित्व का अर्थ क्या है ? व्याख्या क्या है ? समझना जरा कठिन है, पर ऐसा लगता है कि समाज कभी धर्म को स्वीकार नहीं करता । कोई जाति धर्म को स्वीकार नहीं करती । कुछेक व्यक्ति होते हैं, जो धर्म को पकड़ लेते हैं और उस मार्ग में लग जाते हैं किन्तु समाज केवल आदर्शवाद को कभी स्वीकार नहीं करता । चाहे हम कितना ही बोलें, कितना ही लिखें, समाज उसे स्वीकारेगा नहीं । सचाई यह है—जहाँ समाज है, जहाँ शासन है, वहाँ आदर्शवाद की बात एकछत्र मान्य नहीं होती । वहाँ समझौता करना होता है । एक राज-नेता को, समाज के मुखिया को बहुत समझौता करना पड़ता है । उसे कभी नीचे उतरना पड़ता है, कभी ऊपर चढ़ना पड़ता है । कभी ऐसे व्यक्तियों से भी हाथ मिलाना पड़ता है, जो वांछनीय नहीं होते । उस व्यक्ति को

लचीला माना जा सकता है और वही समाज को ठीक चला सकता है। समाज विचित्र भावों वाले व्यक्तियों का ढाँचा है। अगर कोरा आदर्शवाद हो तो वह जकड़ जाएगा। सीमा होगी, समझौता होगा इसलिए धर्म को मानकर समाज नहीं चलता। धर्म को मानकर आध्यात्मिक व्यक्ति चल सकता है।

धर्म और समाज

आचार्य भिक्षु का यह दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण है—धर्म और समाज—दोनों को मिलाओ मत, अलग-अलग रखो। यदि यह चाह है—सारा समाज धर्म के द्वारा शासित हो, धर्म और समाज एक ही हैं तो गड़बड़ पैदा हो जायेगी। क्योंकि सारा समाज धर्म को हृदय से स्वीकार ही नहीं करता। समाज में चारों प्रकार के व्यक्ति मिलेंगे। जिन व्यक्तियों के भाव कर्दम जल के समान हैं, उनके लिए धर्म नाम की कोई चीज नहीं है। जिनका भाव खंजन के समान है, उनके लिए भी कोई खास बात नहीं है। बालुका के समान जो लोग समाज में मिलते हैं, वे धर्म को मानकर चलते हैं। जो लोग पत्थर के पानी के समान उजले और साफ होते हैं, ऐसे व्यक्ति समाज में विरल ही मिलते हैं।

समाज उस समष्टि का नाम है, जहाँ पत्थर का पानी भी है, बालु का पानी भी है, खंजन और कर्दम का पानी भी है। यह एक विचित्र प्रकार की खिचड़ी है। उसे हम एक ही भाव से चलाना चाहें तो कैसे सम्भव होगा ? केवल धर्म के द्वारा उसका संचालन कैसे सम्भव होगा ?

धर्म का काम

भावों की तरतमता को समझें और यथार्थ को स्वीकार करें। धर्म का काम यह है कि भावों को कैसे प्रशस्त बनाया जाए ? उस प्रक्रिया में चलें। धर्म की दिशा होगी भावों को प्रशस्त करना, निर्मल बनाना, पत्थर के पानी के समान बना देना। वहाँ से धर्म चलता है किन्तु चलते-चलते दुरूह मार्ग आ जाता है और बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। समाज में हिंसा समाप्त हो जाए, यह बहुत अच्छा स्वप्न है पर कठिन स्वप्न है। प्रयत्न हो ऊर्ध्वारोहण का, वृत्तियों और भावों के परिष्कार का। निषेधात्मक भाव कैसे समाप्त हों ? विधायक भाव समाज में कैसे बढ़ें ? यह सारा सम्भव है साधना के द्वारा। हमारे पास साधन क्या हैं ? केवल उपदेश, शिक्षा, प्रशिक्षण और हृदय-परिवर्तन। हमारी आस्था और प्रयत्न तीव्र बने, यह बहुत जरूरी है किन्तु हमें यथार्थ का बोध, शक्ति का बोध भी स्पष्ट होना चाहिए।

बदलाव क्यों नहीं ?

एक प्रश्न बहुत बार आता है—महावीर हो गए, बुद्ध हो गए, शंकर हो गए, राम और कृष्ण हो गए, विवेकानन्द, परमहंस, महात्मा गांधी आदि हो गए पर समाज वैसा का वैसा है। हिंसा और अपराध वैसे ही चल रहे हैं। वे कुछ भी बदल नहीं सके। इसका सटीक उत्तर दिया है आचार्य विनयविजय जी ने। आचार्य भिक्षु ने उसकी विशद व्याख्या की। विनय-विजयजी ने कहा—‘तीर्थङ्कर भी अपने आस-पास को नहीं बदल सकते तो सारे संसार की बात क्यों करें ! क्या महावीर जमाली को बदल पाए ? वह महावीर का दामाद था, शिष्य था फिर भी महावीर उसे नहीं बदल पाए ।’ गांधी के परिवार को देखें। क्या गांधी अपने लड़के को बदल पाए ? उसे नहीं बदला जा सका।

कितना विराट् है भाव जगत् !

हम इस भाव जगत् की विराटता और विशालता को देखें। इतना विशाल और विराट् है भावों का जगत् कषायों का जगत्। उसे पहचाना ही नहीं जा सकता। हम अपनी आत्मा का विश्लेषण करें, अपने ही भावों के जगत् का अध्ययन करें। एक व्यक्ति के भावों का जगत् भी इतना विराट् है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। बड़ा कठिन है भावों के जगत् को समझना। यदि कोई व्यक्ति वीतराग न हो और केवल ज्ञानी बन जाए तो क्या होगा ? वह जी नहीं सकेगा। यह अच्छा किया, एक शर्त लगा दी — तुम केवल ज्ञानी बनने से पहले वीतराग बन जाओ, नहीं तो बड़ा खतरा है। इन सारे संदर्भों में हम देखें। कितना विराट् है हमारे भावों का जगत् और कितना विशाल है हमारा कषाय का जगत्। जो इस जगत् से परे चला जाता है, उसके लिए न जीवन समस्या है, न मरण समस्या है। उसे समस्याविहीन जीवन का सूत्र उपलब्ध हो जाता है।

चार गतियां : आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण

जैन आचारशास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है—जिसने दोनों लोकों की आराधना करली। अर्थ बहुत साधारण सा लगता है। इसकी व्याख्या भी बहुत गंभीर नहीं है किन्तु किसी भी सूत्र का मूल्यांकन नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र के संदर्भ में करें तब पता लगता है कि यह सूत्र कितना गंभीर है।

आचारशास्त्र : दो धारणाएं

दो प्रकार की आचारशास्त्रीय धारणाएं रही हैं—इहलोकवादी और परलोकवादी। पाश्चात्य दार्शनिकों और आचारशास्त्रियों ने आचार की, नैतिकता की धारणा को मुख्यतः इहलोक से संबंधित बतलाया। जो व्यक्ति का शुभ संकल्प है और जिसके द्वारा समाज की ठीक व्यवस्थाएं चलती हैं, वह नीतिशास्त्र का आधार बनता है। प्राचीन भारत में धारणा रही परलोकवादी। कहा गया—धर्म करो, देवता प्रसन्न हो जाएंगे, तुम स्वर्ग में चले जाओगे, परलोक सुधर जाएगा। तीर्थंकरों और जैन आचार्यों ने इस क्षेत्र में एक बड़ा काम किया। उन्होंने धर्म और नैतिकता को जीवन के साथ जोड़ा। उसीमें से यह स्वर निकला—तेण आराहिया दुवे लोए—उमने दोनों लोकों की आराधना कर ली। इस वाक्य में पश्चिमी आचारशास्त्र और प्राचीन भारतीय आचारशास्त्र—दोनों का समन्वय है।

प्रत्यक्ष है मानसिक सुख

हम इसका मूल्यांकन करें। यह सूत्र कितना गंभीर है! ऐतिहासिक दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है। एक नई धारणा, नई स्थापना संसार के समक्ष रखी—नैतिकता की। आचार का अनुशीलन करने वाला न केवल इहलोक की आराधना करता है, न केवल परलोक की आराधना करता है बल्कि वह इहलोक और परलोक—दोनों को साथ लेता है। उमास्वाति ने कहा—तुम स्वर्ग की बात करते हो। क्या किसी ने स्वर्ग का सुख देखा है? जिसने देखा है, उसे भी याद नहीं है। तुम बात करते हो मोक्ष की। धर्म करता हूँ ताकि मोक्ष मिले। किसने मोक्ष देखा है? प्रत्यक्ष क्या है? यह मानसिक शांति का सुख प्रत्यक्ष है, उपशम का सुख प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष के लिए इतनी दौड़ लगा रहे हो। यह कैसी बात है? यह धर्म का वर्तमान जीवन के साथ जोड़ने वाला सूत्र है—शमसुखं प्रत्यक्षम्।

इहैव मोक्ष:

आज के नीतिशास्त्री मानते हैं—जैन दर्शन ने धर्म को जीवन के साथ जोड़ा, उसका श्रेय जैन आचारशास्त्र को जाता है। उसने धर्म को केवल पारलौकिक नहीं माना। जब अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ तब इस सूत्र का बार-बार उच्चारण हुआ—धर्म केवल पारलौकिक नहीं है। उससे वर्तमान जीवन सुधरना चाहिए। जिसका वर्तमान जीवन अच्छा नहीं है, उसका भविष्य कैसे अच्छा होगा? तुम्हारे पैर के तले अंधेरा है और तुम कल्पना करते हो अगले चरण में उजाला होने की। यह कैसे संभव है? यह सम्भव है—वर्तमान जीवन अच्छा बने तो अगले जीवन की अलग से चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। वर्तमान में जिसके सामने प्रकाश है, भविष्य में उसके जीवन में अपने आप प्रकाश होने वाला है। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—क्या मोक्ष मरने के बाद मिलेगा? क्या परलोक में मिलेगा? जैन आचारशास्त्र का निचोड़ है यह सूत्र—**सुविहितानां इहैव मोक्षः**—वर्तमान जीवन में मोक्ष, वर्तमान जीवन में स्वर्ग। वर्तमान में मोक्ष है तो भविष्य में होने वाला है। आचारशास्त्र जुड़ेगा तो इहलोक-परलोक—दोनों ही सूत्र जुड़ेंगे। जैन आचारशास्त्र की यही विशेषता है—वह केवल वर्तमान जीवन के साथ, इस जीवन के साथ नहीं जुड़ा। यदि धर्म को वर्तमान जीवन से ही जोड़ा जाता तो आत्म-कर्तृत्ववाद, कर्मवाद—ये सारे उठ जाते।

जैनआचार शास्त्र : दो पक्ष

जैन आचारशास्त्र का प्रथम प्रबल पक्ष है—व्यवहारवाद। उसने नीतिशास्त्र को व्यावहारिक बताया, पारलौकिक नहीं रखा। नीतिशास्त्र का दूसरा पक्ष है—इन्द्रिय की अनुभव की सीमा है। इसमें भी दो धारणाएं रही। एक ओर कुछ लोगों ने इन्द्रिय अनुभव को सब कुछ मानकर निर्णय किया। केवल ऐन्द्रियिक आधार पर नीतिशास्त्र को खड़ा किया। दूसरी ओर ईश्वर की सत्ता के आधार पर नीतिशास्त्र को खड़ा किया गया। ये दोनों ही पक्ष बड़े जटिल बन गए। जैनाचार्यों ने इन दोनों का समन्वय किया। अगर इन्द्रिय अनुभव सीमित है तो उसके आधार पर नीतिशास्त्र का महल नहीं खड़ा किया जा सकता। अगर खड़ा किया गया तो वह सुखवादी बन जाएगा और सुखवाद कभी भी नैतिकता की परिभाषा में नहीं आता। जो इन्द्रियों को अच्छा लगेगा, वही हमारा आचार बन जाएगा, वही हमारा कर्त्तव्य बन जाएगा।

जटिल विषय

क्या हम ईश्वर पर छोड़ दें? प्रश्न हो सकता है—ईश्वर का आदेश

किसे मिला ? हिन्दुस्तान में ही क्यों मिला ? ईश्वर ने अमुक धर्म को ही आदेश क्यों दिया ? वेदों का उद्गाता ईश्वर बना या पैगम्बर ? महाप्रभु के आदेश अमुक-अमुक व्यक्तियों को ही क्यों मिले ? यह बड़ा जटिल विषय बन जाता है । जैन दर्शन ने इन दोनों का समन्वय किया । इन्द्रिय जगत् की एक सीमा है और ईश्वरीय आदेश तुम्हारी पवित्र आत्मा के लिए है इसलिए आत्मा से भिन्न आदेशों की अपेक्षा मत रखो । अपनी पवित्र आत्मा में से ही आदेशों को खोजो । यह सूत्र सामने आया—जो वीतराग पुरुष कहता है, वही हमारे लिए आदेश है । यह कोई ईश्वरीय आदेश नहीं है । हमारे जैसी ही आत्मा ने अपनी साधना के द्वारा राग और द्वेष को शान्त किया है । उस शांत आत्मा में से जो कुछ निकलता है, वह हमारे लिए आदेश और निर्देश बन जाता है ।

आचार का आधार है अनुभव

हम वीतराग के आदेश को न स्वीकार करें तो बड़ी कठिनाई हो जाती है । हर किसी व्यक्ति की बात को मानना भी हमारे लिए बड़ी कठिनाई है । एक व्यक्ति ने कहा—यह ईश्वरीय आदेश है । प्रश्न होगा—किसी व्यक्ति को ईश्वर का आदेश मिला किन्तु उसकी व्याख्या किसने की ? व्याख्या करने वाला तो ईश्वर नहीं है । एक ही प्रकार के आदेश की व्याख्या सौ प्रकार की हो जाती है । किसे सच मानें, किसे न मानें ? ईश्वर का आदेश क्या है ? मूल खोजना मुश्किल हो जाता है । या तो वह व्यक्ति इतनी साधना करे, स्वयं ईश्वरीय भूमिका तक पहुंच जाए । उसके बाद वह कह सकता है—यह ईश्वरीय आदेश है । व्याख्याकार में जैसी बुद्धि होगी, वह वैसी व्याख्या करेगा और बोलेगा—यह ईश्वरीय आदेश है । इतना जटिल विषय है—क्या मूल है और क्या ईश्वरीय आदेश है ? समझना कठिन है । जैन-आचार शास्त्र में इस विषय को सुलझाया गया—न तो ईश्वरीय आदेश जैसी बात है, न ईश्वर ने किसी एक व्यक्ति से कहा है, न कोई इन्द्रिय सुखवाद जैसा हमारे आचार का आधार है । हमारे आचार का आधार बनता है अपना अनुभव । उस व्यक्ति का अनुभव, जो वीतरागता की भूमिका तक चला जाए । वह अनुभव बताने वाला पुरुष हमारे सामने है, कोई खोजने की जरूरत नहीं है । उसने जो कुछ लिखा है, बहुत सीधी भाषा में निर्देश दिया है, उसको हम मानकर चलें । यही जैन आचारशास्त्र का आधार बन गया । जैन आचारशास्त्र का मूल आधार बनता है वीतराग का वचन । जिस व्यक्ति ने वीतराग का जीवन जीया और उस व्यक्ति ने जो कहा, वह हमारे आचार का आधार बन सकता है ।

तीसरा आधार

आचारशास्त्र का तीसरा सूत्र है—आध्यात्मिकता । हमारा नीति-

शास्त्र, आचारशास्त्र केवल समाज की व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है। वह मात्र वर्तमान की उपयोगिता है। जैसे ही उपयोगिता बदलेगी, आचार बदल जाएगा। उसका आधार कभी शाश्वत नहीं रहेगा।

जयपुर में अणुव्रत आन्दोलन पर बहुत लम्बी चर्चा हुई। प्रश्न थाया—अणुव्रत का आधार क्या है? अणुव्रत नीतिशास्त्र है, जीवन का व्यवहार है। उसमें न समाज की व्यवस्था है न राज्य की व्यवस्था है। समाज में दो शब्द चलते हैं—पाप और अपराध। पश्चिम में चलता है अशुभ और अपराध। धर्मशास्त्र का शब्द है अधर्म। पाप शब्द लौकिक व्यवस्था के कारण ज्यादा प्रचलित हो गया। मूल है धर्म और अधर्म। समाजशास्त्र की दृष्टि से व्याख्या करेंगे तो कहा जाएगा—जो कार्य समाज सम्मत नहीं है, उसका आचरण करना पाप है। जो काम कानून सम्मत नहीं है, उसका आचरण करना अपराध है। कुछ काम ऐसे हैं, जो दोनों दृष्टियों से खराब हैं। जैसे चोरी करना, डाका डालना सामाजिक पाप भी है और कानूनन अपराध भी। किन्तु धर्म का काम बिल्कुल नीतिशास्त्र का है। जो जैन आचारशास्त्र है, वह पाप और अपराध—इन दोनों भूमिकाओं से परे जाता है। उसका हृदय है—चोरी करने का संकल्प ही कर लिया तो अधर्म हो गया। वहां न समाज की पकड़ है और न कानून की पकड़ है। अपने मन में कोई भी बुरा संकल्प मात्र किया है, आचरण नहीं किया है, वह संकल्प समाज की दृष्टि से पाप कैसे होगा? क्योंकि वहां समाज की पकड़ ही नहीं है किन्तु धर्म की दृष्टि से विचार करें तो वह अधर्म है। बुरा संकल्प करना भी अधर्म है।

सामाजिक आचार का आधार

इसका मतलब है—सामाजिक आचारशास्त्र आचरण और कर्तव्य के आधार पर चलता है। व्यक्ति ने कैसा संकल्प किया है, यह उसका आधार है। आध्यात्मिक आचार अध्यवसाय के आधार पर चलता है। आचरण की बात वहां दूसरे नम्बर पर आती है। व्यक्ति की आन्तरिकता कैसी है? संकल्प कैसा है? यह हमारा आध्यात्मिक आधार है। व्यवस्था की वहां पकड़ ही नहीं है। बन्दुक में गोली भरी और चला दी, वह कानून की पकड़ में आता है पर गोली चलाने का मन में संकल्प किया, वह पकड़ में ही नहीं आता है। जब तक व्यक्ति आचरण नहीं कर लेता, कानून की गिरफ्त में नहीं आता।

सामाजिक व्यवस्था पर आधारित नीतिशास्त्र आचरण पर चलता है। जैन आचार शास्त्र एक का आधार है आध्यात्मिकता। भीतर में क्या हो रहा है? हमारी कसौटी है आध्यात्मिकता। वह जुड़ी या नहीं

जुड़ी ? जब तक आध्यात्मिकता की बात नहीं होगी, तब तक क्या होगा ? आचारशास्त्र को अन्तर के साथ जोड़ा जाए । उसे आध्यात्मिक आधार मिले और आध्यात्मिकता के आधार पर सारे निर्णय हों । जैन आचारशास्त्र का यह मूल आधार रहा । आन्तरिक अध्यवसाय कैसा है ? समता है या विषमता है । इस आधार पर सारा निर्णय किया गया ।

चार गतियां : आचारशास्त्र

इन सारे संदर्भों में जैन आचारशास्त्र को हम पढ़ते हैं तो चार गति की बात समझने में बड़ी सुविधा होती है । जैन आगमों में चार गतियां वर्णित हैं^१—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव । प्रत्येक गति में जाने के चार-चार कारण बतलाए गए हैं ।

नरक गति के चार कारण ये हैं^२—

महाभारंभ—अमर्यादित हिंसा
महापरिग्रह—अमर्यादित संग्रह
पंचेन्द्रिय बध
मांसाहार ।

तिर्यंच गति के चार कारण ये हैं^३—

माया—मानसिक कुटिलता
निकृत—ठगाई
असत्य वचन
कूट तोल—माप ।

मनुष्य गति के चार कारण ये हैं^४—

प्रकृति-भद्रता
प्रकृति-विनीतता
सदय-हृदयता
परगुण-सहिष्णुता ।

देव गति के चार कारण ये हैं^५—

सराग-संयम
संयमासंयम
बाल-तप
अकाम निर्जरा ।

१. ठाणं ४/२८७

२. ठाणं ४/६२८

३. ठाणं ४/६२९

४. ठाणं ४/६३०

५. ठाणं ४/६३१

ये सारे कारण वर्तमान के साथ जुड़े हुए हैं। यह कभी नहीं कहा गया—देवताओं को प्रसन्न करो, तुम स्वर्ग में चले जाओगे, सारा गतिचक्र स्वनिष्ठ, व्यक्तिनिष्ठ आचरण पर आधारित है।

दो शब्दों में उलभी हैं समस्याएं

आज की सारी सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं—इन दो शब्दों में उलभी हुई हैं। महाआरंभ और महापरिग्रह—इन शब्दों का अर्थ है—केन्द्रित हिंसा और केन्द्रित परिग्रह। हिंसा का केन्द्रीकरण और परिग्रह का केन्द्रीकरण। दो धारणाएं बन गईं—एक विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था और दूसरी केन्द्रित अर्थ व्यवस्था, विकेन्द्रित हिंसा और केन्द्रित हिंसा। जहां-जहां कुछ लोगों के हाथ में आर्थिक व्यवस्था है, वहां सब कुछ केन्द्रित है। अस्सी करोड़ जनसंख्या वाले हिन्दुस्तान में देश की पूंजी सौ-दोसौ घरानों में सिमट जाए तो वह निश्चित ही पूरे समाज में उच्छृंखलता पैदा करेगी, हिंसा को उभारेगी। भगवान् महावीर ने कहा—महाआरम्भ और महापरिग्रह—नरक का कारण है। आचारांग के इन शब्दों को हिंसा के लिए धाद करें—‘एस खलु णरये’—यह नरक है। नरक का मतलब मरने के बाद का ही नहीं है। जिस समाज में अर्थ-व्यवस्था इतनी गड़बड़ाई हुई होती है, वह समाज सचमुच नारकीय जीवन भोगता है। यह मूढता है, मूर्च्छा है, मार है, मृत्यु है। इस असंयमित अर्थ व्यवस्था के कारण आज करोड़ों आदमी नारकीय जीवन भोग रहे हैं। वैसे स्थान में अगर एक रात किसी को रख दिया जाए तो वह सोचेगा—इससे खराब और क्या नरक होगा? आज भी देश में दस-बीस करोड़ ऐसे लोग हैं, जिन्हें दो बार भी पूरा भोजन नहीं मिलता। इन सारी स्थितियों के आलोक में जैन आचारशास्त्र को आज के संदर्भों में पढ़ना बहुत जरूरी है। हो सकता है, इसके आधार पर हम भी समाज के सामने कुछ समाधान प्रस्तुत कर सकें। इसी संदर्भ में अणुव्रत का मूल्यांकन करना है, उसका युगीन भाषा में प्रस्तुतीकरण करना है। यह प्रस्तुतीकरण धर्म को नया आलोक देगा और सामाजिक व्यवस्था को सुधारने में भी योगभूत बन सकेगा।

उदय और अस्त

जीवन का लक्ष्य

मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? यह प्रश्न मनुष्य के मन में उभरता रहता है । लक्ष्य को परिभाषित करना सहज-सरल नहीं है । प्रत्येक मनुष्य अपने चिंतन, शक्ति और बुद्धि के द्वारा लक्ष्य का निर्धारण करता है । यदि उसका सामान्यीकरण किया जाए तो कहा जा सकता है—मानव-जीवन का लक्ष्य है शक्ति का विकास । इस दुनिया में कमजोर आदमी के अस्तित्व का टिकना मुश्किल है । शक्तिशाली ही इस दुनिया में बच पाता है ।

डाविन ने विकासवादी सिद्धांत के अनुसार यह प्रतिपादित किया—प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए संघर्ष करता है । इस सिद्धांत के प्रतिपक्ष में नीत्से ने कहा—यह सही नहीं है । प्रत्येक प्राणी शक्ति-प्रर्जन के लिए संघर्ष करता है । शक्ति का विकास करना जीवन का लक्ष्य है । जैन नीतिशास्त्र की भाषा में कहा गया—जीवन का लक्ष्य है—उदय । इस सूत्र को समझने के लिए स्थानांग सूत्र में चार विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं—

१. उदित और उदित ।
२. अस्त और उदित ।
३. उदित और अस्त ।
४. अस्त और अस्त ।

सफलता का सूत्र

यह सूत्र शक्ति के सिद्धांत की व्याख्या करता है । उदय का मानदण्ड है, हमारी शक्ति का विकास । हमारे जितने भी विकास हैं, उसकी पृष्ठभूमि में है शक्ति । ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है, अन्तराय कर्म के क्षयोपशम का योग नहीं है, तो ज्ञान काम नहीं आएगा । भौतिक विकास का प्रश्न है या आध्यात्मिक विकास का, प्रत्येक विकास के पीछे अगर शक्ति का बरदान है तो सब कुछ है । यदि शक्ति नहीं है तो कुछ भी नहीं है । इसका अर्थ है—अन्तराय कर्म को दूर करना । शक्ति का विकास करना सफलता का सबसे पहला सूत्र है ।

स्थानांग में चार प्रकार के व्यक्तियों का निदर्शन प्रस्तुत है^१—

१. प्रारंभ में उन्नत और अन्त में उन्नत, जैसे—चक्रवर्ती भरत ।
२. प्रारंभ में उन्नत और अन्त में अनुन्नत, जैसे—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ।
३. प्रारंभ में अनुन्नत और अंत में उन्नत, जैसे—हरिकेश बल ।
४. प्रारंभ में अनुन्नत और अन्त में अनुन्नत, जैसे—कालसौकरिक ।

सुखवादी वृत्ति

भरत चक्रवर्ती का जीवन प्रारंभ से ही उदय में था और अंत तक उदय में रहा । चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त पहले उदय में थे, बाद में अस्त हो गए । इन दोनों को हम नीतिशास्त्र की दृष्टि से देखें । दोनों चक्रवर्ती हैं, भरत भी चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त भी चक्रवर्ती । ब्रह्मदत्त प्रारंभ में उदय में थे और अंत में अस्त हो गए । ऐसा क्यों हुआ ? इस सन्दर्भ में हम एक सिद्धांत की ओर ध्यान दें । नीतिशास्त्र का एक सिद्धांत है—सुखवाद । नीत्से ने सुखवाद की कटु आलोचना की है । उसका कथन है—सुखवाद मनुष्य को अस्त की ओर ले जाता है । फ्रायड का सिद्धांत था काम (Sex) का । उसका मानना था—हमारी हर प्रवृत्ति के मूल में कामना है । नीत्से ने इसका विरोध किया । उसने कहा—यह सिद्धांत सही नहीं है । हमारी वृत्ति में है Will to Power । यह हमारा प्रमुख सिद्धांत है—शक्ति के लिए इच्छा । फ्रायड की भाषा में कामना मूल आधार है और नीत्से की भाषा में शक्ति जीवन का मूल आधार है । इसका तात्पर्य है—सुखवादी वृत्ति आदमी को उदय से अस्त की ओर ले जाती है ।

परम श्रेय क्या है ?

हम इन दोनों सिद्धांतों के सन्दर्भ में विवेचन करें । यह बात स्पष्ट हो जाती है—भरत चक्रवर्ती प्रारंभ से अंत तक उन्नत रहे क्योंकि उन्होंने सुखवादी जीवन की धारा में जीवन को नहीं लगाया, किन्तु जीवन को आत्म-संयम की धारा में लगाया । वह संघर्ष, जो कठोर आत्म-संयम के साथ चलता है, व्यक्ति को सदा उदय की ओर ले जाता है । जो व्यक्ति सुख की धारा में चला जाता है, आराम, कामना, भोग-विलास की वृत्ति में चला जाता है, वह उदय से अस्त की ओर चला जाता है । कठोर आत्म-संयम के बिना कोई भी उदय में रह नहीं सकता । नीत्से ने परम श्रेय माना है शक्ति को । जहां आत्म-संयम नहीं होता, वहां शक्ति नहीं हो सकती । नीत्से ने कहा—परोपकार, दीनता का भाव मनुष्य को नीचे ले जाने वाला है । आचार्य मिश्र ने कहा—व्यक्ति को दीन बनाए रखें और फिर उपकार करें, यह समाज के विकास का सिद्धांत कभी नहीं हो सकता ।

उदित और उदित

शक्तिशाली बनने का सिद्धांत है स्वतन्त्रता और स्वावलंबन । व्यक्ति अपनी शक्ति पर, अपने पैरों पर खड़ा हो । संयम के बिना कोई समाज शक्तिशाली नहीं बन सकता । शक्तिशाली तभी बन सकता है, जब दीनता की भावना न हो । स्वतन्त्रता तभी आएगी जब शक्ति का विकास होगा । भरत प्रारम्भ से ही शक्तिशाली थे । अपने पराक्रम से विशाल साम्राज्य को जीता और चक्रवर्ती बने । पराक्रम से शासन चलाया । शक्ति का संवर्द्धन करते रहे । सुखवादी धारा में न बहकर संयम की साधना की । उन्होंने कठोर संयम साधा इसलिए वे अंत तक उदय में रहे ।

उदित और अस्त

ब्रह्मदत्त जीवन के प्रारम्भ में उदित थे, पराक्रमी और शक्तिशाली थे, परन्तु धीरे-धीरे सुखवादी जीवन में चले गए । ब्रह्मदत्त ने कहा— मैं इन भोगों में इतना आसक्त हो गया हूँ कि जानता हुआ भी इन्हें छोड़ नहीं सकता । यह है अस्त होने का रास्ता । यह सच है— जो व्यक्ति सुख, आराम, काम और भोग में फँस गया, वह कमजोर होता चला जाएगा । शक्ति उसके पास रह नहीं सकती । नीत्से ने कहा— दुःख और संघर्ष कभी खराब नहीं होता । वह जीवन के विकास के लिए होता है । जो व्यक्ति दुःख और संघर्ष के रास्ते से नहीं गुजरता, वह कभी शक्ति की मंजिल को नहीं पा सकता । चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त इस दिशा में नहीं गया । केवल भोग में डूबा रहा । परिणाम यह आया— वह शक्तिहीन हो गया और अस्त की ओर चला गया । उसकी मृत्यु भी दुःखद अवस्था में हुई । पहले आँखें फूट गईं । बड़ी कष्टदायक बनी मृत्यु । यह है शक्ति के ह्रास का एक उदाहरण ।

अस्त और उदित

जीवन के ये दोनों उदाहरण हमारे सामने हैं । शक्ति जन्मना ही हो, यह जरूरी नहीं है । इसका उदाहरण है— हरिकेशबल । वह जन्मना ही दुर्बल था । उसका परिवार भी दुर्बल था । हरिकेशबल ने कठोर आत्मसंयम की दिशा में प्रस्थान किया, संयम का जीवन जीया । हरिकेशबल चाण्डालकुल में पैदा हुआ । उस समय अन्त्यज जाति का कितना भयंकर विरोध था ? किंतु संयम का बल साधते-साधते वह शक्तिशाली बन गया । यह स्थिति बनी— एक ओर हरिकेशबल मुनि खड़ा है, दूसरी तरफ ब्राह्मण और उपाध्याय खड़े हैं, यज्ञार्थी पुरोहित और छात्र खड़े हैं । इस द्वन्द्व में मुनि हरिकेशबल विजेता बनता है । वे सारे यज्ञकर्मी मुनि के चरणों में झुक जाते हैं और प्रार्थना के स्वर में कहते हैं— मुनिवर ! आप महान् हैं । हमें क्षमा करें, हमें आशीर्वाद दें ।

एक अस्त व्यक्ति भी अपनी शक्ति का विकास करते-करते शक्ति के शिखर पर पहुँच जाता है। पहले अस्त होते हुए भी उदित हो जाता है। शौर्य, वीर्य, पराक्रम—ये सारे महान् बनाने वाले हैं। हम इस मार्ग पर चलें। मुझे आश्चर्य होता है—महावीर का अनुयायी आलसी और कायर, पुरुषार्थ-हीन और दीन क्यों है? क्या उसने महावीर को सही मानें में जाना नहीं है? महावीर जैसा पराक्रम का इतना बड़ा प्रवचनकार पूरे भारतीय दर्शन में कोई हुआ है? यह खोजना होगा, किन्तु उसको मानने ले कितने पराक्रमी हैं?

अस्त और अस्त

कुछ व्यक्ति अस्त अवस्था में ही जन्म लेते हैं और मृत्यु तक वे अस्त ही रहते हैं। कभी महान् बनते ही नहीं। कालसौकरिक इसका निदर्शन है। वह धंधे से कसाई था। वह हमेशा हिंसा में रत रहा तथा मरते दम तक हिंसा ही करता रहा। शक्ति पाना और शक्ति का उपयोग करना—बिल्कुल भिन्न तत्त्व है। अगर शक्ति पाली और वह मनुष्य या प्राणी जगत् के विरोध में चलती है तो महान् बनाने वाली नहीं होती। वही शक्ति विकासकारी होती है, जो मानव समाज के कल्याण में लगे। जो शक्ति का अपने एवं प्राणी जगत् के कल्याण के लिए प्रयोग करता है, वह व्यक्ति महान् बनता है। कालसौकरिक कसाई में क्रूरता की चेतना रही, उदात्त चेतना नहीं जगी। जिसकी चेतना उदात्त नहीं होती, वह कभी महान् नहीं बन सकता।

सन्दर्भ आचारशास्त्र का

हमारे सामने ये चार निदर्शन हैं। हम इनके जीवन का विश्लेषण करें और वह विश्लेषण आचारशास्त्र के सन्दर्भ में करें। आचारशास्त्र में कुछ व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इस सिद्धांत को पकड़ा है—आत्म-संयम का जीवन जीए बिना, कठोर संयम का जीवन जीए बिना कोई व्यक्ति महान् नहीं बन सकता। शक्ति और आत्म-संयम—इन दो सूत्रों के आधार पर व्याख्या करें तो हमारे सामने एक ऐसा जीवन-दर्शन प्रस्तुत होता है, जिसके आधार पर आज भी बहुत कुछ किया जा सकता है। प्रारम्भ से विद्यार्थी को यह सिखाया जाए—शक्ति का विकास जरूरी है। शक्ति बढ़ाओ और उसका संवर्द्धन करो, दीन-हीन मत रहो, कमजोर मत बनो।

शक्ति-संवर्द्धन के सूत्र

जो जिनकल्प प्रतिमा स्वीकार करता है, उसके लिए महावीर ने पांच तुलाओं का विधान किया है। वे पांच तुलाएं किसलिए हैं? वे सब शक्ति-संवर्द्धन के लिए हैं।

तपस्या, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल—इन पांच तुलाओं से जो

अपने आपको तोल लेता है, उसे शक्तिमान् कहा जाता है^१—

१. तपस्या तुला—छह मास तक भोजन न मिलने पर भी भूख से पराजित न हो, ऐसा अभ्यास तपस्या तुला है ।

२. सत्त्व तुला—भय और निद्रा को जीतने का अभ्यास सत्त्व तुला है । उन्हें जीतने के लिए साधक पहली रात को सब साधुओं के सो जाने पर उपाश्रय में ही कायोत्सर्ग करता है । दूसरी बार उपाश्रय के बाहर, तीसरे चरण में किसी चौक में, चौथे चरण में किसी शून्य घर में, पांचवें क्रम में श्मशान में कायोत्सर्ग करता है ।

३. सूत्र तुला—सूत्र के परावर्तन से उच्छ्वास आदि काल के भेद को जानने की क्षमता प्राप्त कर लेना सूत्र तुला है ।

४. एकत्व तुला—आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का अभ्यास एकत्व तुला है ।

५. बल तुला—मानसिक बल को इतना विकसित कर लेना, जिससे भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी विचलित न हो, बल तुला है ।

ये सूत्र, जो भगवान् महावीर ने दिए, शक्ति-संवर्द्धन के सूत्र हैं । इन्हें पकड़कर ही उदय की बात को समझा जा सकता है ।

१. ठाणं, ८/१ का टिप्पण ।

पराक्रम की पराकाष्ठा

एक सूची है दुर्लभ वस्तुओं की। दुनिया में दुर्लभ क्या है ? उसमें अंतिम वस्तु बतलाई गई है—वीर्य। पराक्रम के अभाव में हमारी बहुत सारी प्रवृत्तियाँ ठप्प हो जाती हैं। सपने सपने रह जाते हैं। उनकी क्रियान्विति नहीं हो सकती। जो सारा दृश्य जगत् है, वह पराक्रम की ही निष्पत्ति है। यदि पराक्रम नहीं होता तो कुछ भी नहीं होता। जो भी होता है, उसका कारण है पराक्रम। एक पराक्रम सैकड़ों शाखाओं में बंट जाता है।

पराक्रम

स्थानांग सूत्र में पराक्रम को चार वर्गों के साथ जोड़ दिया—एक वह व्यक्ति, जो सहनशीलता में बड़ा शूरवीर होता है। एक वह व्यक्ति, जो तपस्या करने में शूरवीर होता है। एक वह व्यक्ति, जो दान देने में शूरवीर होता है और एक वह व्यक्ति है, जो युद्ध लड़ने में बड़ा शूरवीर होता है। कहा गया—

क्षांति में शूर हैं—अर्हत्
तप में शूर हैं—अनगार
दान में शूर हैं—वैश्रमण
युद्ध में शूर हैं—वासुदेव।

सहिष्णुता

यदि पराक्रम न हो, तो व्यक्ति सहिष्णु नहीं हो सकता। दूसरे की वृत्तियों को सहन करना, उसके आक्रोश को सहन करना कम बात नहीं है। बड़े-बड़े लोग घबरा जाते हैं। एक दिन साथ रहते हैं, दूसरे दिन किनारा करने लग जाते हैं। कुछ लोग ही सहन करना जानते हैं।

एक पुत्रवधु ने कहा—मैं सास को सहन करती हूँ इसलिए कि कुल की मर्यादा बनी रहे। मैं अपने नौकरों को भी सहन करती हूँ, इसलिए कि मेरी शालीनता बनी रहे। अगर सहनशीलता नहीं होती तो हिन्दुस्तान में संयुक्त परिवार की प्रणाली चल नहीं पाती। सैकड़ों आदमी एक-साथ रहते थे, लेकिन आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। इसका कारण है सहिष्णुता की कमी। यदि सहनशीलता की शक्ति जाग जाए, तो अर्हत् की दिशा में पैर आगे बढ़ जाए।

क्षमाशूर हैं अर्हत्

हमारे सामने सहन करने का आदर्श या पराकाष्ठा है—अर्हत् । बताया गया—‘खतिसूरा अरहंता’—सहन करने में सबसे ज्यादा पराक्रमी होते हैं अर्हत् । मुनि भी पराक्रमी होते हैं । वे न जाने कितने ही जीवों को सहन करते हैं । व्यक्ति में जितना बड़प्पन होगा, वह उतना ही छोटों को सहन करेगा । सहन करना कोई कायरता नहीं है । कायर आदमी कभी सहन नहीं कर सकता । कायर आदमी का सहन करना उसकी विवशता है पर एक शक्तिशाली आदमी सहन करता है, तो उसका नाम है—सहिष्णुता । भगवान् महावीर ने चण्डकौशिक सर्प को भी सहा । उनमें इतना पराक्रम था कि उनका सारा बल सहन करने में नियोजित हो गया । सहन करने की पराकाष्ठा में परिगणित होते हैं—अर्हत् ।

तपःशूर

महावीर के युग से लेकर आज तक बहुत से ऐसे साधु-साध्वियां हुए हैं, जिन्होंने बहुत कुछ सहन किया है । बहुत सहिष्णु थे वे । यह है तपस्या का बल ! एक साध्वी ने तेरापन्थ द्विशताब्दी पर बारह मास की तपस्या की । भोजन नहीं किया, केवल आँसू के पानी पर रही । ‘तपशूरा अनगारा’—अनगार तपस्या में शूर होता है । तपस्या से बड़ा बल और पराक्रम मिलता है । योगक्षेम वर्ष में एक साध्वी ने ८८ वर्ष की अवस्था में अनशन किया । ५५ दिन का अनशन आया । कितनी बड़ी बात है ! यह अनगार की बात है । तपस्या में पराकाष्ठा अनगार की होती है ।

दानशूर हैं कुबेर

तीसरा शूर है दान का । कमजोर आदमी जी नहीं सकता । पराक्रम के ये दो उदाहरण अध्यात्म के क्षेत्र के हैं । सहन करना है या तपस्या करना है, वही कर सकता है, जो पराक्रमी होगा । प्रस्तुत दो उदाहरण हैं—लौकिक क्षेत्र के । दान के क्षेत्र में आदर्श है कुबेर । इतना बड़ा दानी है कि वह धन का देवता कहलाता है । वह यक्ष है ।

पुराने जमाने की बात है । एक पंडित राजा के पास आए । राजा ने सोचा—यह कुछ मांगने आया है । राजा की दान देने की नियत नहीं थी । राजा ने कहा—ब्राह्मणराज ! आप अगस्त्य मुनि की संतान हैं, अगस्त्य ऋषि तो समुद्र को तीन चुल्लु में पी गए थे । आप तीन घड़े पानी पीकर तो दिखाएँ । आप जो मांगेंगे, वही मिलेगा । पंडितजी चतुर थे । वे बोले—महाराज ! आप रघुवंशी हैं । राम ने बड़े-बड़े पत्थर समुद्र में तिरा दिए थे । आप एक छोटा-सा कंकर पानी में तिराकर दिखाएँ तो मैं तीन घड़ा पानी पीकर दिखा सकता हूँ ।

दान देना बड़ा कठिन होता है और वह भी सात्त्विक वृत्ति के साथ । निःस्वार्थ भाव से दान देना बड़ा मुश्किल होता है । इसीलिए कहा गया— 'दानसूरे वेसमणे'—दान में शूर हैं वैश्रमण । वह न जाने कितने लोगों को दान देता है ।

युद्ध शूर हैं वासुदेव

युद्ध में शूर हैं वासुदेव—युद्धसूरा वासुदेवा । चक्रवर्ती पद की दृष्टि से बड़ा होता है । वासुदेव का राज्य होता है तीन खण्ड का और चक्रवर्ती का राज्य होता है छह खण्ड का । परन्तु युद्ध में जो पराक्रम वासुदेव का है, वह चक्रवर्ती का नहीं । वासुदेव महाबली माने जाते हैं । चाहे कृष्ण को लें, लक्ष्मण को लें, वे बहुत पराक्रमी हुए हैं । वीर्य और शौर्य में वासुदेव सबसे पराक्रमी होता है । एक ओर खर दूषण की चौदह हजार की सेना, दूसरी ओर अकेले लक्ष्मण । पर लक्ष्मण को कोई परवाह नहीं । वासुदेव बड़े पराक्रमी होते हैं । पराक्रम की पराकाष्ठा है वासुदेव ।

पराक्रम के प्रकार

ये शूरता के चार उदाहरण हैं, पर शौर्य का काम हजारों क्षेत्रों में बंट जाता है । पराक्रम के बिना कुछ भी नहीं होता । प्रकृति का नियम ऐसा है कि किसी में एक प्रकार का पराक्रम जागता है तो किसी में दूसरे प्रकार का । शरीर का ही संदर्भ लें । किसी के पैरों में पराक्रम जागता है, वह चलने में बड़ा पराक्रमी होता है । किसी के हाथों में पराक्रम होता है । इसी आधार पर मंत्र शास्त्र में विद्याओं का विकास किया गया । कहा जाता है—पैर के अंगूठे पर ध्यान करो, नाभि पर ध्यान करो, शक्ति केन्द्र पर ध्यान करो । अंगूठे पर ध्यान करेंगे तो लाघव आएगा, शरीर में पराक्रम बढ़ेगा । नाभि पर ध्यान करने से आरोग्य का पराक्रम आएगा । सबमें एक जैसा पराक्रम नहीं होता, पर हम एक बात अवश्य जान लें—हमारे पास सब कुछ है और एक पराक्रम नहीं है, तो कुछ भी नहीं है ।

शक्ति-विकास का मंत्र

प्रश्न है—शक्ति का विकास कैसे हो ? हम इस पर मनन करें । मैं अनुभव की बात करूँ । एक समय था—हमारे आस-पास समस्याएं प्रतीत होतीं । दूसरे लोग आलोचनाएं करते । हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े विचारक ने आलोचना की—तेरापन्थी साधु क्या हैं ? अपने भक्तों के बीच बैठ जाते हैं, कुछ ढाले गा लेते हैं, बस हो गया धर्म-व्याख्यान । उस आलोचना को आचार्यवर ने सुना पर उत्तर नहीं दिया । उन्होंने तय कर लिया—हमें इसका उत्तर देना है, शक्ति बढ़ा कर । एक मंत्र मिला—अपनी शक्ति का

विकास । इसका परिणाम है—आज वे आलोचनाएं करने वाले प्रशंसक बन गए हैं ।

महावीर ने कहा—सहनशीलता से अपने पराक्रम को बढ़ाओ ! शक्ति का विकास करो । शक्ति के अभाव में न आरोग्य टिक सकता है, न ज्ञान और ध्यान ।

जीना है शक्ति का जीवन

एक सेठ बहुत संपन्न था पर अस्वस्थ रहता था । सब जगह दिखाया पर लाभ नहीं हुआ । एक पुराने वैद्य के पास गया । वैद्य ने कहा—ये गोलियां तुम्हें स्वस्थ कर सकती हैं, पर मेरा अनुपान बड़ा कठिन है । अनुपान यह है—जब पूरे शरीर से पसीना चूने लगे तब यह गोली खानी है ।

‘यह कैसे होगा ?’

‘श्रम करो, काम करो, पसीना टपकेगा । जब पसीना टपके तब गोली ले लेना । उस समय यह दवा काम करेगी । सेठ ने श्रम करना शुरू किया, दवा ली और दस दिन में ठीक हो गया ।’

जो व्यक्ति श्रम नहीं करता, वह कैसे ठीक होगा ? सबसे बड़ा मंत्र है शक्ति का विकास । जिसने अन्तराय कर्म को मिटा लिया, उसने बहुत कुछ कर लिया । हम यह पाठ पढ़ें—जीना है तो शक्ति का जीवन जीना है । हमारी सफलता में सबसे बड़ा विघ्न होता है अन्तराय कर्म । उसका क्षयोपशम करना है, उसे क्षीण करना है । एक शक्ति जागेगी तो सब कुछ जाग जाएगा । यह शक्ति का मन्त्र हमारे हाथ लगे, सब कुछ मिल जाएगा ।

वे भी श्रावक हैं

शिष्य की जिज्ञासा

शिष्य गुरु की उपासना में उपस्थित हुआ। उसने विनम्र प्रणिपात कर निवेदन किया—गुरुदेव ! आपने मुझे पढ़ाया था—णो हीणे णो अइरित्ते—कोई आत्मा हीन नहीं होती, कोई आत्मा अतिरिक्त और विशिष्ट नहीं होती। सब आत्माएं समान हैं। आपने मुझे यह समानता का पाठ पढ़ाया था किन्तु मनुष्य-मनुष्य में कितना अन्तर है ? मनुष्य मनुष्य के दृष्टिकोण में कितना अन्तर है ? एक आदमी किसी दृष्टिकोण से सोचता है तो एक आदमी किसी दूसरे दृष्टिकोण से सोचता है। फिर यह सिद्धांत कैसे मान्य होगा—सब आत्माएं समान हैं ?

‘वत्स ! आज तुमने ऐसी क्या नयी घटना देखी, जिससे इस सिद्धांत के प्रति तुम्हारे मन में उद्वेलन हो गया ?’

‘मैं आज एक घटना को देखकर आया हूं और उस घटना ने मेरे चिंतन को एक मोड़ दिया है। मैं एक धर्म प्रवक्ता के पास बैठा था। प्रवचनकार ने अपनी बात का निरूपण किया, कुछ सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उस समय मैंने जो विचित्रता देखी, उससे मेरे मन में यह संदेह पैदा हो गया।’

मैंने देखा—उस धर्म के प्रवचनकार ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह अद्भुत था। कुछ लोगों ने बिल्कुल यथार्थ को ग्रहण कर लिया, जैसा कहा था, वैसा स्वीकार कर लिया। कुछ लोगों ने इस बात को उस समय स्वीकार कर लिया किन्तु प्रवचन पण्डाल से बाहर निकलते ही चर्चा शुरू कर दी—आज जो प्रवचन में बातें बनाई गई हैं, वे गलत हैं। उनमें सचाई है ही नहीं।

‘वत्स ! बात क्या थी ?’

जिज्ञासा का हेतु

‘गुरुदेव ! प्रवचनकार ने कहा—धर्म वर्तमान जीवन को सुधारने के लिए होता है। परलोक की बात को छोड़ दो, वर्तमान जीवन को सुधारो। किसी ने कहा—यह गलत बात है। धर्म परलोक सुधारने के लिए होता है।’

गुरुदेव ! मैंने ऐसे आदमी को भी देखा, जो प्रवचन के बीच ही बोल उठा—यह बात हमें मान्य नहीं है। मैंने सदा सुना है—धर्म होता है अगले जीवन को सुधारने के लिए और आप कह रहे हैं वर्तमान जीवन को सुधारने के लिए धर्म है। धर्म भी वार्तमानिक बन गया, ऐहलौकिक बन गया। जबकि धर्म पारलौकिक होता है। आपकी बात हमें मान्य नहीं है। मैंने देखा—उनमें आग्रह है, बात की पकड़ है। एक ऐसा व्यक्ति भी देखा, जिसने प्रवचन के बीच ही भगड़ा शुरू कर दिया। वह आग्रह तक सीमित नहीं रहा, कदाग्रह में चला गया। उसने कहा—महाराज ! आप प्रवचन करना जानते ही नहीं हैं। पहले प्रवचन करना सीखो। उसने इतना कदाग्रह किया, परिषद् में कोलाहल मच गया। यह सब घटना देखने के बाद—सब आत्माएं समान हैं, यह सिद्धांत मुझे सही नहीं लगा। अगर सब समान होते तो यह घटना क्यों घटती ?

समान है स्वरूप

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुमने जो सुना, उसका हार्द नहीं समझा। णो हीणे णो अइरित्ते—यह निश्चयनय का सिद्धांत है। जहां आत्मा के स्वरूप का प्रश्न है, वहां न कोई हीन होता है और न कोई अतिरिक्त। सब आत्माओं का स्वरूप एक जैसा ही है। सबमें अनंत क्षमता है, अनंत ज्ञान और दर्शन है। कुछ भी फर्क नहीं है, चाहे वह वनस्पति का जीव है या मनुष्य का जीव। किन्तु यह निश्चयनय की बात व्यवहार में सम्मत नहीं है। जहां व्यवहार नय का प्रश्न है, वहां यह सिद्धांत मान्य नहीं है। व्यवहार में हम मानेंगे—सब आत्माएं समान नहीं हैं, सब मनुष्य समान नहीं हैं। कुछ यथार्थग्राही हैं, कुछ अस्थिर बुद्धि वाले हैं, कुछ आग्रही हैं और कुछ कदाग्रही।

यथार्थग्रहिणः केचित्, केचित् अस्थिरबुद्धयः।

केचिद् आग्रहिणो लोका, कदाग्रहपराः परे ॥

विभिन्न मतयो लोकाः, इति सत्यं सनातनम्।

सर्वेषां तुल्यता वत्स ! व्यवहारे न सम्मता ॥

चार प्रकार के मनुष्य

मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक स्थिति के आधार पर अनेक प्रकार के वर्गीकरण किए हैं। व्रती और सम्यक्दृष्टि के आधार पर हम मनुष्यों का वर्गीकरण करें तो चार प्रकार के मनुष्य होते हैं—

१. दर्पण के समान।

२. ध्वजा के समान।

३. स्थाणु के समान ।

४. खरकंटक के समान ।

चार प्रकार का व्यवहार

भगवान महावीर ने कहा—कुछ लोग दर्पण के समान होते हैं । दर्पण इतना साफ और निर्मल होता है कि उसके सामने जो भी आता है, उसका यथार्थ प्रतिबिम्ब आ जाता है ।

जो व्यक्ति दर्पण के समान होता है, वह यथार्थ तत्त्व को सहजता से स्वीकार कर लेता है । वह उस तत्त्व को हृदयंगम कर लेता है ।

जो व्यक्ति ध्वजा के समान होता है, वह एक बार तो बात को स्वीकार करता है किन्तु हवा चलती है तो वह इधर-उधर हो जाता है । वह ध्वजा जैसा अस्थिर मति वाला होता है, कहीं टिकता ही नहीं है ।

जो आग्रही होते हैं, उनमें बात की पकड़ होती है । जो अच्छी बात को छोड़ना नहीं चाहते, उन्हें पुराणवादी कहा गया । आज संघर्ष है पुराणवादियों और नववादियों का । जो पुराना, वह अच्छा । जो नया, वह बुरा । ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो यथार्थ को स्वीकार कर सकें, सच्चाई को स्वीकार कर सकें । नई बात को सुन सकें और उसे पचा सकें । नई बात को पचाना तो दूर की बात है, सुनना भी पसंद नहीं करते । जो मस्तिष्क के फ्रेम में मंड़ दिया गया, उसके विपरीत थोड़ी-सी बात आती है तो तमतमा उठते हैं । आचार्यवर ने जब भी कोई परिवर्तन किया, बड़ी विकट समस्याएं आई हैं ।

निदर्शन

ऐसा माना जाता था—बंगाल अनार्य देश है, वहां साधुओं को नहीं विचरना चाहिए । आचार्यवर कलकत्ता में थे । कुछ व्यक्ति बोले—आपको अनार्य देश में विहार नहीं करना चाहिए । आचार्यवर ने कहा—भगवान् महावीर कहां विचरते थे ? क्या राजस्थान में विहार करते थे ?

‘नहीं ।’

‘तो फिर ?’

‘बंगाल और विहार में करते थे ।’

‘क्यों करते थे ?’

‘कुछ कारण रहा होगा’

‘भगवान ने विचार किया—मुझे बहुत निर्जरा करनी है इसलिए वे संघालों—आदिवासियों के बीच गए । उस समय वह अनार्य प्रदेश कहलाया था । अनार्य प्रदेश में महावीर जा सकते हैं तो उनके शिष्य क्यों नहीं जा सकते ? उन्हें बताया गया—साढ़े पच्चीस आर्य देश माने गए

हैं। उनमें बंगाल का भी नाम है। हमारा शास्त्र कहता है—यह आर्य देश है। आपने कैसे कहा—यह अनार्य देश है ?

‘हमने तो यही सुन रखा है और यही मानेंगे। शास्त्रों को हम नहीं मानते।’

न तो वे शास्त्रों की बात मानने को तैयार और न अपनी धारणाओं को बदलने के लिए तैयार। ऐसे लोग अपने आग्रह को छोड़ना नहीं चाहते।

कदाग्रह

एक है कदाग्रह भूमिका वाले मनुष्य। अगर यह भूमिका नहीं होती तो पर्ववाजी नहीं चलती, आक्षेप वाली बातें नहीं चलती। ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो हमेशा झगड़ा करने में रस लेते हैं।

हम कैसे मानें—सब लोग समान होते हैं ? हमें व्यवहार की बात को मानकर चलना पड़ेगा। व्यवहार की बात को न मानें तो सारी स्थितियां बदल जाएंगी। ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें कोई मति नहीं दी जा सकती, जिन्हें कोई हिताहित का भान भी नहीं होता। ऐसे लोग जानबूझकर किसी भी बात को पकड़ लेते हैं, अपने हाथों अपने हित को निरस्त कर देते हैं।

बुद्धि के चार प्रकार

चार प्रकार के लोग व्यवहार की भूमिका पर होते हैं। महावीर ने कहा—श्रावकों में भी ऐसे लोग होते हैं। आश्चर्य होता है—जो श्रावक हैं, जिन्होंने धर्म को अंगीकार किया है, उनमें भी ऐसी चार मति वाले लोग हो जाते हैं। हम बुद्धि को चार भागों में बांट दें।

१. यथार्थ को ग्रहण करने वाली बुद्धि।

२. वह बुद्धि, जो यथार्थ को ग्रहण तो करती है, पर पचा नहीं पाती।

३. वह बुद्धि, जहां विचार का दरवाजा बन्द है। दरवाजा खुलता ही नहीं। कोई नई बात भीतर जा ही नहीं सकती। इस कोटी में आते हैं सारे पुराणपंथी, रूढ़िवादी। ऐसे लोग यह नहीं सोचते—आज जो बात पुरानी है, वह सौ वर्ष पहले नई थी। ऐसे लोगों के लिए आचार्य मिश्र ने कहा—अधजले टूठ जैसे लोग। ऐसे लोगों के दिमाग में नई बात को प्रवेश करने के लिए कोई अवकाश नहीं होता।

४. चौथे प्रकार की बुद्धि है कदाग्रह से भी युक्त। यह आग्रह से भी खतरनाक है। आज जो सांप्रदायिक झगड़े चलते हैं, वे आग्रह और कदाग्रह बुद्धि के आधार पर चलते हैं। धर्मगुरु कहलाने वाला कह देता है—मेरे मत या संप्रदाय के विरोध में अगर कोई थोड़ी सी टिप्पणी करता है, उसे मार

डालो। व्यक्ति के विरुद्ध मौत का फतवा जारी हो जाता है। एक धार्मिक व्यक्ति में इतनी भी सहिष्णुता नहीं कि कोई आपका स्वतंत्र विचार रख दे। वह विमत को सहन नहीं कर सकता। इसका मतलब यह है—धर्म वह होता है, जो स्वतंत्रता को मान्यता नहीं देता। पांच-दश हजार वर्ष पहले जो कह दिया गया, वह सत्य है किन्तु आज सत्य के लिए दरवाजा बंद हो गया है। ऐसा कदाग्रह जहां आ जाता है, वहां श्रावक के लिए धर्म का कोई अवकाश नहीं रहता।

मति हो दर्पण के समान

हम विचार करें—धर्म कहां प्राप्त होता है? धर्म वहां प्राप्त है, जहां स्वतंत्रता मान्य है, आग्रह मान्य नहीं है और कदाग्रह तो बिल्कुल भी मान्य नहीं है। भगवान महावीर ने अनेकांत का प्रतिपादन किया। उसका हृदय है—एक वस्तु के अनन्त पर्याय होते हैं। दस दिन पहले एक पर्याय था, आज दूसरा पर्याय हो गया। दस दिन पूर्व एक आदमी अस्वस्थ था और दस दिन बाद स्वस्थ हो गया। स्वस्थ अस्वस्थ हो जाता है और अस्वस्थ स्वस्थ। पर्याय का परिवर्तन निरन्तर होता चला जा रहा है। चिंतन के पर्याय का परिवर्तन भी होता है, तत्त्व के पर्याय का परिवर्तन भी होता है। जो पर्याय के परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता, वह है आग्रही। जो उसे ठुकराना चाहता है, वह है कदाग्रही। भगवान महावीर ने कहा—बदलते हुए पर्याय की सच्चाई को स्वीकार करो। तुम सत्य के साथ चल सकोगे। श्रावक वह होता है, जो सत्य को स्वीकार करता है। सत्य को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए जरूरी है कि वह दर्पण के समान बना रहे। ध्वजा के समान भी न बने, स्थाणु के समान भी न बने, खरकंटक के समान भी न बने। दर्पण के समान हमारी मति जागे। वह सत्य को ग्रहण करने वाली मति होगी। उस मति के द्वारा ही इन साम्प्रदायिक भ्रमों को समाप्त कर हम स्वच्छ मार्ग का, प्रगति के मार्ग का, प्रतिपादन कर सकेंगे।

शय्या जागने के लिए

नया चिन्तन

दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—आसन बैठने के लिए है और शय्या सोने के लिए । आगम सूत्रकार ने नया चिन्तन दिया—शय्या केवल सोने के लिए नहीं होती, जागने के लिए भी होती है । जो शय्या पर जागता है, वह सच-मुच महान् आदमी होता है । सुख शय्या—आरामदायक शय्या पर जागना बहुत बड़ी बात है ।

प्रश्न है—आदमी को सुलाता कौन है ? कहा गया—चार बातें हैं, जो आदमी को सुला देती हैं—

१. संदेह
२. असंतोष
३. विषयासक्ति
४. असहिष्णुता

दुःख के हेतु

पहली बात है—संदेह । जब भी मन में संदेह होता है, जागता हुआ आदमी सो जाता है । सबसे ज्यादा विघ्न डालने वाला अगर कोई तत्त्व है तो वह है संदेह । संदेह के सामने अणुबम भी छोटा पड़ जाता है । यह है दुःख शय्या । दूसरा विघ्न है असंतोष । जितना हमें मिला, उससे तृप्ति नहीं होती । जो नहीं मिला, उससे असंतोष बढ़ता है । एक लखपति बन गया, उसे लखपति बनने का संतोष नहीं होता, किन्तु करोड़पति नहीं बनने का असंतोष जरूर होता है । तीसरा विघ्न है विषय की आकांक्षा । व्यक्ति में विषय की आसक्ति और मूर्च्छा बनी रहती है, वह दुःख देती है । दुःख का चौथा हेतु है वेदना । जब-जब शरीर में कोई रोग या वेदना होती है, आदमी को दुःख होता है ।

सुख शय्या

ये चार दुःख के हेतु हैं । जो व्यक्ति इन चारों हेतुओं को पार कर जाता है, वह सुख की शय्या पर रहते हुए भी जागता रहता है ।

सुखशय्या चार हैं—

१. विश्वास, आस्था
२. संतोष
३. अनासक्ति
४. सहिष्णुता

पहली सुख शय्या है आस्थाशील होना । जिस मार्ग को स्वीकारा है, उसके प्रति विश्वास होना चाहिए । एक मुनि बना, उसके मन में संदेह पैदा हो गया—मैंने निग्रंथ प्रवचन को स्वीकारा है, पर उसमें तो यह नहीं है, वह नहीं है । हजारों लोगों के बीच में रहना बड़ी समस्या है । लोग कितनी बातें सुनाते हैं । अगर सुनने वाले का अपना विचार परिपक्व न हो तो वह डगमगा जाएगा । समुद्री तूफान से भी भयंकर है यह विचारों का तूफान । ध्यान करने वालों से कहा जाए—क्या रखा है ध्यान में ? ध्यान से क्या हो जाएगा ? दस मिनट ऐसी बात कही जाए तो दस महीने के किए कराए पर पानी फिर जाए । आदमी का स्वभाव है—कोई मनभावनी बात सुनता है तो प्रशंसा कर देता है । अप्रिय बात सुनता है तो कटु आलोचना कर देता है । व्यक्ति यह मानकर न चले—मैं काम करूँ किन्तु मेरी आलोचना न हो । वह यह मानेगा तो इससे बड़ी कोई भूल नहीं होगी । उसे यह मानकर चलना चाहिए—मैं बोलूँगा, चलूँगा, कोई काम करूँगा तो आलोचना होगी । आलोचना से मुक्त होना भगवान् के भी वश की बात नहीं है । जो आदमी आलोचना के आधार पर अपने विचार को डगमगा देता है, वह सचमुच दुःख के सागर में निमग्न हो जाता है । इसीलिए कहा गया—तुम जो भी करो, निःशंक होकर पूर्ण आस्था के साथ करो । यदि बीच में कोई विचारों का तूफान न आए तो यह आस्था की नौका तुम्हें पार लगा देगी । पहली सुख शय्या है निःशंका, निःशंक रहना । जो मार्ग स्वीकारा है, उस मार्ग पर पूर्ण आस्था के साथ चलते रहना ।

प्राप्त में संतोष

दूसरी सुखशय्या है—प्राप्त में संतोष करना । एक को ज्यादा मिला, एक को कम मिला । विचार आता है ईर्ष्या का । यह व्यावहारिक और सामाजिक बात है किन्तु जिस व्यक्ति ने अध्यात्म को समझा है, उसका मार्ग बदल जाएगा । उसके चित्तन की धारा और दृष्टिकोण बदल जाएगा । वह सोचेगा—यह नहीं मिला तो कोई बात नहीं, मुझे तो छोड़ना ही है, पाना मेरा लक्ष्य नहीं है । आध्यात्मिक व्यक्ति यह मानकर चले—मुझे सब कुछ छोड़ना है, इस शरीर को भी छोड़ना है । मैं मानता हूँ—ध्यान से भी

बड़ा है व्युत्सर्ग । और सब साधन हैं, व्युत्सर्ग है हमारा साध्य । हमें व्युत्सर्ग की भूमिका तक पहुंचना है । आत्मवादी का सदा यह लक्ष्य रहेगा—जो सहज ही मिल गया, वह अच्छी बात है । यदि नहीं मिला तो भी वह सोचेगा—मुझे उसे छोड़ना ही है एक दिन । मुझे व्युत्सर्ग की दिशा में जाना है ।

दो दिशाएं

दो दिशाएं हैं—पदार्थाभिमुख दिशा और आत्माभिमुख दिशा । आत्माभिमुख दिशा व्युत्सर्ग की दिशा है । यह चिन्तन रहेगा तो व्यक्ति सुख शय्या में भी जागता रहेगा, कोई उसे दुःखी नहीं बना सकेगा । उसे न ईर्ष्या सताएगी, न कोई दूसरा व्यक्ति सताएगा । जिसने अध्यात्म का थोड़ा मर्म भी समझा है, वह कभी दुःखी नहीं बन सकता । जब आचार्य भिक्षु को प्रवास-स्थान छोड़ने के लिए कहा गया, तब उसके प्रति द्वेष आने के कितने ही प्रसंग बने, पर उनका चिन्तन आत्माभिमुखी बना रहा । उन्होंने सोचा—कुछ समय बाद विहार करेंगे, उस समय छूटेगा यह स्थान । कुछ पहले छूट गया है तो कोई बात नहीं है ।

अनासक्ति

तीसरी सुखशय्या है—इन्द्रिय विषयों के प्रति अनासक्ति । पांच इंद्रियां और उसकी वृत्तियां आदमी को सुला देती हैं, मूर्च्छा में ले जाती हैं । उनके प्रति अनास्वाद होना बहुत बड़ी साधना है । जो अनासक्त हो जाता है, वह सचमुच सुख की शय्या में रहता है । जिसने इन्द्रिय-विषय पर विजय प्राप्त कर ली, वह सचमुच अजेय बन जाता है । उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता । यह कठिन तो बहुत है । बहुमत है इन्द्रिय की तरफ ले जाने वालों का, अल्पमत है इन्द्रिय विजय की ओर ले जाने वालों का । भगवान् ने बताया—बहुमत की बात अच्छी नहीं है । मैंने जब इसे पढ़ा तब यह लगा—महावीर ने शायद लोकतंत्र को नहीं देखा इसीलिए ऐसी बात कही किन्तु जब गांधी को पढ़ा तो मुझे लगा—जो लोकतंत्र में जीने वाले लोग हैं, वे भी ऐसा ही सोचते हैं । महात्मा गांधी ने लिखा—बहुमत का मतलब है नास्तिकता । जहां प्रश्न सत्य का है, वहां बहुमत या अल्पमत की बात नहीं आती । हम बहुमत की बात छोड़ दें । यदि अल्पमत भी सत्य के साथ है, तो उस अल्पमत का बड़ा महत्त्व है । जो इन्द्रियों को खुली छूट देते हैं, वे तेजी से दुःख की ओर अग्रसर होते चले जाते हैं । जिन्होंने इन्द्रियों पर प्रतिबंध लगाया है, वे दुःख से सुख की ओर बढ़े चले जा रहे हैं ।

सहिष्णुता

चौथी सुखशय्या है—वेदना के आने पर भी विचलित न होना । जब-

जब कोई रोग या समस्या आती है, आदमी विचलित हो जाता है। उस समय एक आलम्बन सूत्र बनता है, यह चिन्तन—अर्हत्, बड़े-बड़े साधक और तपस्वी, जिनके कोई रोग या समस्या नहीं होती, वे भी तपस्या करते हैं। वे एक प्रकार से जानबूझकर वेदना की उदीरणा करते हैं। मेरे शरीर में सहज ही बीमारी आ गई है तो मुझे उसे शांति या धैर्य के साथ भेलना है, सहना है। मन को उच्चावच नहीं बनाना है। आगे बढ़ने के लिए, लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आदर्श का होना जरूरी है। आदर्श से हमारी प्रेरणाएं निरंतर जागृत रहेंगी। हमारा आदर्श है—अर्हत्। जब अर्हत् सहन करते हैं तब मैं क्यों न करूं। यह चिन्तन व्यक्ति को सहिष्णु बना देता है। वेदना के प्रसंग पर सहिष्णुता बहुत आवश्यक है।

(ये चार सुखशय्याएं जागरूकता के सूत्र हैं। सुख शय्या में रहना और जागृत रहना बड़ी बात है। जब-जब आदमी में संवेग जागता है, तब-तब वह आदमी को सुला देता है। जब-जब वैराग्य जागता है तब तब वह आदमी को जगा देता है। जागरूकता के इन सूत्रों पर हम थोड़ा मनन करें, चिन्तन करें, प्रयोग और अभ्यास करें, तो निश्चित ही हम ऐसी सुखशय्या को उपलब्ध हो सकते हैं, जहां जाने पर आदमी को कोई दुःखी न बना सके।

ज्यूं धमै ज्यूं लाल

तरतमता के अनेक दृष्टिकोण हैं। उनमें एक है मृदुता और कठोरता का। मृदु होना अच्छा है और मृदु होना अच्छा नहीं भी है। कठोर होना अच्छा है और कठोर होना अच्छा नहीं भी है। कहा जाता है—**व्रजादपि कठोराणि मुद्गानि कुसुमादपि**—फूल से भी मृदु और वज्र से भी कठोर। सापेक्ष दृष्टि से विचार करें, तो किसी को अच्छा या बुरा अपेक्षा के साथ ही कहना होगा। हम निरपेक्ष होकर कुछ नहीं कह सकते।

गोला और मनुष्य

स्थानांग सूत्र में मनुष्य के व्यक्तित्व का आकलन, उसके स्वभाव का समायोजन मिलता है। एक सुन्दर रूपक से समझाया गया है उसके स्वभाव को। कहा गया—गोला चार प्रकार का होता है—

मोम का गोला ।

लाख का गोला ।

काष्ठ का गोला ।

मिट्टी का गोला ।

मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

मोम के गोले जैसा,

लाख के गोले जैसा,

काष्ठ के गोले जैसा,

मिट्टी के गोले जैसा ।

गोले की प्रकृति

मोम का गोला थोड़ा-सा ताप लगते ही पिघल जाता है। लाख का गोला थोड़ा अधिक ताप लगने से पिघल जाता है। काठ का गोला न सूरज के ताप से पिघलता है, न दूसरे ताप से पिघलता है। सीधी आग लगती है तो वह पिघल जाता है। मिट्टी का गोला नहीं पिघलता। वह न सूरज के ताप से पिघलता है और न आग से। अगर आग में डालो तो परिणाम आएगा—**ज्यूं धमै, ज्यूं लाल**। जितनी आग तीव्रता पकड़ेगी, वह लाल होता चला जाएगा।

संदर्भ सहिष्णुता का

ये चार गोलों की चार प्रकृतियां हैं। मनुष्य की भी चार प्रकृतियां होती हैं। इस एक सूत्र की पचास नय से व्याख्या की जा सकती है। पहला नय है सहिष्णुता का। एक आदमी इतना मृदु होता है कि किसी बात को सहन नहीं कर सकता। कोई बात होती है और कपड़े डाल देता है। सहन करना जानता ही नहीं है। दूसरा आदमी कुछ सह लेता है। ज्यादा कष्ट आता है तो अधीर हो जाता है। तीसरे प्रकार के आदमी में सहिष्णुता बहुत होती है किन्तु यदि कोई भारी कष्ट आता है तो वह विचलित हो जाता है। एक आदमी मिट्टी के गोले जैसा होता है। कितना भी कष्ट आ जाए, विचलित नहीं होता। जितना ज्यादा कष्ट आता है, उसकी सहिष्णुता और दृढ़ता बढ़ती चली जाती है। वह प्राण न्योछावर करने को तैयार रहता है पर विचलित नहीं होता।

संदर्भ प्रभाव का

ये चार प्रकार के लोग होते हैं। आचार्य भिक्षु ने चार गोलों की एक ढाल बनाई और इस सूत्र का बहुत सुन्दर भाष्य किया। उन्होंने दूसरे नय से इसकी व्याख्या की। वह नय है—प्रभावित होना और प्रभावित न होना। एक नय है सहिष्णुता का, दूसरा नय है प्रभाव का। आचार्य भिक्षु ने एक कहानी को कल्पना का रूप दिया—मुनि के पास चार व्यक्ति आए। मुनि ने चारों को धर्म की बात सुनाई। धर्म की व्याख्या सुनकर उनके मन में वैराग्य जाग गया। उन्हें लगा—यह भौतिकता का जीवन भी कोई जीवन है? इसमें आदमी अपने से दूर और पदार्थ के निकट चला जाता है। यह कैसा जीवन है? एक नया प्रकल्प उनके मन में जागा। एक भावना जागी—चलो, घर जाएं और पूरे जीवन को साधना में लगा दें। कोई विशेष अवसर आता है तब विशेष प्रकल्प की जागृति संभव बन जाती है। उनका राग विराग में बदल गया।

केवल एक बच्चा

वे धर्म स्थान से बाहर आए। लोगों ने थोड़ी-सी आलोचना की—इन साधुओं का तो काम ही ऐसा होता है, दूसरों का घर छोड़ा देते हैं। तुम भी इनके चक्कर में फंस गए। थोड़ा सा ताप पड़ा, एक व्यक्ति वहीं पिघल गया।

तीनों घर पहुंचे। माता-पिता को सारी बात बताई। उन्होंने कहा—धर्म सुना, बड़ा अच्छा लगा। मन में वैराग्य जाग गया। इच्छा जाहिर की—साधु बन जाएं। माता-पिता बोले—तुम मूर्ख हो। साधुपन कितना कठिन है। उन्हें भय दिखाया। जो लाख का गोला था, वह पिघल गया। दो

व्यक्तियों में वैराग्य का भाव बना रहा ।

तीसरा व्यक्ति गया पत्नी के पास । उसने पत्नी से कहा—जो व्यक्ति मनुष्य होकर आत्मचिन्तन नहीं करता, आत्मा की बात नहीं सोचता, उसका क्या जीवन है ? पत्नी ने कहा—यदि साधु बनने की बात कही तो अभी छत पर जाकर नीचे कूद जाती हूं । पत्नी ने ऐसी तेज आंच दी, लाल आंख की कि आग की लपटों में काठ का गोला भी जल गया ।

एक व्यक्ति बचा, वह मिट्टी के गोले जैसा था । वह माता-पिता और बच्चों का गुस्सा सहन कर गया । लोगों की आलोचना भी सहन कर गया । पत्नी उसकी बात सुनकर रौद्र रूप में आ गई । उसने कहा—अगर तुम्हें साधु ही बनना था तो मुझे क्यों लाए ? तुम साधु नहीं बन सकोगे । बहुत धमकियां दी - मैं मर जाऊंगी, कुएं में गिर जाऊंगी । तुम्हें बदनाम कर दूंगी । वह मौनभाव से सुनता रहा । उसने कहा—मैं किसी को मारना नहीं चाहता किंतु कोई मर जाता है, तो उसे बचाना मेरे सामर्थ्य की बात भी नहीं है । यह राग और विराग अपने-अपने मन की बात है । यह मेरी भावना का प्रश्न है—मैं साधना करूंगा । पत्नी ने रूप बदला । पहले रौद्र रूप दिखाया, फिर अनुकूल बन गई । उसने मधुर स्वरों में कहा—पतिदेव ! आप ऐसा मत करो । आपके सिवाय मेरा कौन है ? उसने बहुत विनती की । अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों दिखला दी पर उसे कोई प्रभाव नहीं हुआ । वह मिट्टी का गोला था । उसका स्वभाव था—ज्यूं धमै, ज्यूं लाल । उसका वैराग्य अविचल बना रहा ।

संदर्भ आध्यात्मिकता का

प्रभाव की दृष्टि से ये चार प्रकार के लोग हैं । एक है आध्यात्मिकता का नय । मोम के गोले जैसी वृत्ति का आदमी आध्यात्मिक नहीं बन सकता । वह नितान्त भौतिक रहता है । जो लाख के गोले जैसा होता है, अध्यात्म का स्पर्श मात्र करता है । जो काठ के गोले जैसा होता है, वह अध्यात्म में थोड़ा अंतःप्रवेश करता है, कुछ भीतर जाता है पर टिक नहीं पाता । अनुकूलता और सुख-सुविधाओं को देख विचलित हो जाता है । जो मिट्टी के गोले जैसा होता है, वह आध्यात्मिक होता है । वह अपने आपमें रहता है, न बाधाओं से विचलित होता है और न सुख-सुविधाओं के प्रलोभन में फंसता है ।

प्रश्न है बड़प्पन का

हम यह मानते हैं—आत्मा परमात्मा बन सकती है । प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह भावना जागती है—मैं बड़ा बनूं । प्रश्न है—बड़प्पन कहां से आए ? हमारा सामाजिक और व्यावहारिक मूल्य यह है—बड़प्पन वह है, जो बाहर से आरोपित किया जाता है । सामाजिक मूल्यों में पद का महत्त्व

है, मूल्य है। अगर बड़ा बनने की भावना पद के साथ जुड़ी रहे तो बड़ी समस्या पैदा होती है। यह पदार्थवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है। अध्यात्मवादी के मन में भी बड़ा होने की भावना प्रबल होगी पर वह बड़प्पन भीतर से फूटेगा। आचार्यश्री द्वारा रचित एक पद्य है—**काम पीछे नाम, केवल नाम से नुकसान है**—यह पद्य एक नई दृष्टि देता है।

भीतर से फूटता है बड़प्पन

हम इस चर्चा को नई दृष्टि से लें। यह नहीं कहा गया—बड़ा बनने की भावना मत रखो। ऐसा कहने का अर्थ है विकास की भावना को रोकना। अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता दी गई—तुम नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बन सकते हो। इस स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि तुम बड़प्पन की भावना मत लाओ। पर वह बड़प्पन कहां से फूटे। यह प्रदत्त न हो, आरोपित न हो किन्तु अपने भीतर से फूटे। जो व्यक्ति अपने भीतर से महान् बनने की प्रक्रिया शुरू कर देता है, वह सचमुच जितना बड़ा बनता है उतना बड़ा दुनिया में कोई आदमी नहीं होता। एक योगी और साधु को सारी दुनिया बिना कहे पूजने लग जाती है। क्योंकि बड़प्पन उसके भीतर से फूटता है। जो भीतर में मिट्टी के गोले जैसा बन जाता है, दुनिया का कोई भी ताप उसे नष्ट नहीं कर सकता और ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में महान् होता है।

महानता की भाषा

हम महानता की भाषा को समझें। साधना के क्षेत्र में रहने वालों के मन में यह बात आ जाए—बाहर से आने वाला बड़प्पन एक व्यवहार है, व्यवस्था की बात है किन्तु वास्तव में बड़प्पन अपने भीतर से फूटना चाहिए। सामर्थ्य अपने भीतर में जागृत होना चाहिए। एक व्यक्ति जिसके अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है, उसमें दान की शक्ति आ जाती है। वह एक तिनका हाथ में लेता है और उसमें से सारी दुनियां को बड़ा से बड़ा दान दे सकता है। यह आदिमक शक्ति है। आत्मा में जितनी ताकत है, उतनी किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है।

इन तीनों नयों से हम गोले और आदमी की तुलना करें, अध्ययन करें तो जीवन का एक नया दर्शन, एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। उस दृष्टि के आधार पर अपने आपको महान् बनाने का एक स्वर्ण-सूत्र हमारे हाथ लग जाएगा।

मौलिक मनोवृत्तियां

मनुष्य शरीरधारी प्राणी है। उसकी सारी प्रवृत्तियां शरीर से चलती हैं। शरीर एक बहुत बड़ा खजाना है। उसमें क्या-क्या छिपा हुआ है? यह जानना सामान्य आदमी के वश की बात नहीं है। प्रतिदिन शरीर को देखने वाला उसे जानता नहीं है, कल्पना भी नहीं कर सकता, इतना इस शरीर में है। कुछ स्थूल है, कुछ सूक्ष्म है, कुछ सूक्ष्मतर है, कुछ सूक्ष्मतम है। आगे से आगे बढ़ें, सूक्ष्मता बढ़ती चली जाती है। शरीर में कुछ सूक्ष्मतर प्रकम्पन हैं। वे बाहर आते हैं और हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। उनकी पहचान की गई। स्थानांग सूत्रकार ने उनका नाम दिया—संज्ञा, संवेदना। पतंजलि ने उनका नाम दिया—क्लेश। मनोविज्ञान में उनका नाम है—मौलिक मनोवृत्तियां। इस सचाई तक बहुत सारे लोग पहुंचे कि भीतर में ऐसे कुछ छिपे हुए तत्त्व हैं, जो हमें अभिप्रेरित कर रहे हैं, हमारे जीवन में कुछ विशेष प्रकार की घटनाएं घटित करने के लिए जिम्मेदार बन रहे हैं।

वृत्तियों का वर्गीकरण

स्थानांग सूत्र में संज्ञाओं के दो वर्गीकरण प्राप्त हैं। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार संज्ञाएं चार हैं—^१

१. आहार ३. मैथुन

२. भय ४. परिग्रह

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार संज्ञाएं दस हैं—

१. आहार ६. मान

२. भय ७. माया

३. मैथुन ८. लोभ

४. परिग्रह ९. लोक

५. क्रोध १०. ओघ

महर्षि पतंजलि ने पांच क्लेश बतलाए हैं—

१. अविद्या

१. ठाणं ४/५७८

२. ठाणं १०/१०५

३. पातंजलयोग दर्शन २/३

२. राग
३. द्वेष
४. अस्मिता
५. अभिनिवेश

मनोविज्ञान के अनुसार मौलिक मनोवृत्तियां दो हैं—

१. जीवन मूलक मनोवृत्ति
२. मृत्यु मूलक मनोवृत्ति

चौदह प्रकार की मौलिक मनोवृत्तियां इन दो का विस्तार हैं—

- | | |
|----------------------|------------------------|
| १. पलायनवृत्ति | ८. कामवृत्ति |
| २. संघर्षवृत्ति | ९. स्वाग्रहवृत्ति |
| ३. जिज्ञासावृत्ति | १०. आत्मलघुतावृत्ति |
| ४. आहारान्वेषणवृत्ति | ११. उपार्जनलघुतावृत्ति |
| ५. पित्रीयवृत्ति | १२. रचनावृत्ति |
| ६. यूथवृत्ति | १३. याचनावृत्ति |
| ७. विकर्षणवृत्ति | १४. हास्यवृत्ति |

चार, दस, पांच, दो, चौदह—ये सारे वृत्तियों के वर्गीकरण हैं

विकास का जीवन

वृत्तियां और संज्ञाएं हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। प्रश्न है—मनुष्य क्या करे ? वृत्तियां पशु में भी होती हैं किन्तु वे बदलती नहीं। जैसी वृत्तियां जागती हैं, पशु उन्हें भोगता रहता है। मनुष्य में विशेषता यही है कि वह अपनी वृत्तियों को बदल सकता है, उनका परिष्कार कर सकता है। यह विशेषता एक भेदरेखा खींचती है। उसे हम विवेक भी कह सकते हैं और धर्म भी।

आदमी को कुछ अर्थों में प्राकृतिक जीवन जीना चाहिए। यदि वह सम्पूर्ण प्राकृतिक जीवन जीता तो आदमी जंगली होता, वह विकास नहीं कर पाता। एक प्राकृतिक जीवन है और दूसरा है विकास का जीवन। मनुष्य ने विकास की बात सोची। उसमें इतनी क्षमता है कि वह केवल प्रकृति पर संतुष्ट नहीं हो सकता। क्षमता इसलिए है कि उसे विशेष प्रकार की बुद्धि, चेतना तथा विवेक प्राप्त है। उसने केवल पदार्थ जगत् में विकास शुरू नहीं किया, किन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन के विकास के भी कई मार्ग ढूँढ़े। उसने अपनी मौलिक मनोवृत्तियों में भी विकास और परिष्कार की बात सोची।

वृत्ति : तीन अवस्थाएं

मनोविज्ञान के अनुसार वृत्तियों की तीन अवस्थाएं बनती हैं—

उन्नयन—व्यक्ति अपनी वृत्ति का उन्नयन (Sublimation) कर सकता है ।

अवदमन—जो इच्छा बांछनीय नहीं होती, उसको व्यक्ति दबा सकता है, उसका रिप्रेसन (Repression) कर सकता है ।

रूपान्तरण—मनुष्य वृत्ति का रूपान्तरण (Conversion) कर सकता है ।

ये तीन प्रकार की अवस्थाएं होती हैं । सबसे अच्छी बात उन्नयन की मानी जाती है । फ्रायड ने वृत्ति का मूलभूत आधार काम (सेक्स) को माना । कामवृत्ति का परिष्कार होता है । काम की भावना जागी और उसका अवदमन कर दिया या उसका रूपान्तरण कर दिया किन्तु सबसे अच्छा माना जाता है उसका सब्लीमेशन—उन्नयन । व्यक्ति कला, शिल्प या साहित्य में चला गया, उसमें इतना डूब गया कि उसे काम की वृत्ति याद ही नहीं आती ।

नेहरू का कथन

पं० नेहरू से पूछा गया—आपने दूसरी शादी क्यों नहीं की ? उन्होंने कहा—मुझे इसके बारे में सोचने का मौका ही नहीं मिला, समय ही नहीं मिला । दूसरे कार्यों में आदमी इतना खो जाता है कि उसे काम की वृत्ति याद ही नहीं आती । इसीलिए कहा जाता है—अपने दिमाग को व्यस्त रखो, खाली मत रखो । जिससे काम की वृत्ति को अवकाश ही न मिले । यही है उन्नयन ।

प्रश्न हो सकता है—क्या इससे काम की वृत्ति समाप्त हो जाएगी ? क्या काम के विकार प्रकारान्तर से नहीं सताएंगे ? मनोवैज्ञानिक नीत्से ने कहा—यह उन्नयन की बात बिल्कुल ठीक नहीं बैठती है । उन्नयन के बाद भी काम के विपरिणाम नहीं आए, ऐसा हमारा अनुभव नहीं है । यह एक चर्चा का विषय बन गया—क्या वास्तव में उन्नयन हो सकता है या नहीं हो सकता ? होता है तो उसका परिणाम क्या आता है ?

पांच विकल्प

हम इस समस्या पर विचार करें । स्थानांग सूत्र और तत्त्वार्थभाष्य में एक सुन्दर प्रसंग आता है । देवताओं की कामवृत्ति पर विचार किया गया । प्रश्न आया—क्या देवता भी काम का आसेवन करते हैं ?

‘हां, करते हैं ।’

‘कैसे करते हैं ?’

इस प्रश्न के संदर्भ में पांच विकल्प दिए गए हैं—

कायप्रवीचार—स्त्री और पुरुष के काय से होने वाला मैथुन का आसेवन ।

स्पर्शप्रवीचार—स्त्री के स्पर्श से होने वाला मैथुन का आसेवन ।

रूपप्रवीचार—स्त्री के रूप को देखकर होने वाला मैथुन का आसेवन ।

शब्दप्रवीचार—स्त्री के शब्द को सुनकर होने वाला मैथुन का आसेवन ।

मनःप्रवीचार—स्त्री के प्रति मानसिक संकल्प से होने वाला मैथुन का आसेवन ।

उदात्तीकरण काम का

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा प्रथम दो देवलोक के देवता मनुष्य की मांति काम का सेवन करते हैं ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक के देवता काय प्रवीचार नहीं करते । वे केवल स्पर्श से तृप्त हो जाते हैं । जब कामवृत्ति जागती है, देवांगनाएं उपस्थित हो जाती हैं । देवता उनका स्पर्श करते हैं । इतने में ही कामवृत्ति शांत हो जाती है ।

ब्रह्मलोक और लांतक देवलोक के देवता केवल रूपप्रवीचार करते हैं । जब वासना जागती है तब देवियां उपस्थित हो जाती हैं ।

शुक्र और सहस्रार देवलोक के देव शब्दप्रवीचार करते हैं । वे न कायप्रवीचार करते हैं, न स्पर्श और रूप प्रवीचार । जब काम-वासना जागती है तब देवांगनाओं का या उनके आभूषणों का शब्द सुनते हैं । काम-वृत्ति शांत हो जाती है ।

नीचों से बारहवें देवलोक के देव मनःप्रवीचार करते हैं । जब काम-वृत्ति जागती है, देवियों के प्रति मानसिक संकल्प करते हैं । कामवृत्ति उपशांत हो जाती है ।

उससे उच्च देवलोक के जो देव हैं, वे अप्रवीचार होते हैं । वे काय, स्पर्श, रूप, शब्द या मन—किसी के द्वारा भी प्रवीचार नहीं करते । उनमें कामवृत्ति जागती ही नहीं है ।

हम प्रारम्भ से चलें, उदात्तीकरण का निदर्शन देखें । प्रथम देवलोक के देवों में कायप्रवीचार होता है । उसका उन्नयन हुआ और हो गया स्पर्श-प्रवीचार । उसका उन्नयन हुआ और हो गया रूपप्रवीचार । उसके उन्नयन से रह गया शब्दप्रवीचार । उसका उन्नयन है मनःप्रवीचार । वृत्ति अधिक उदात्त बनी, काम-वासना समाप्त हो गई ।

कारण की खोज

प्रश्न है—ऐसा क्यों होता है ? मूल कारण क्या है ? जैन आचार्यों ने इस मूल कारण की खोज की । तत्त्वार्थ भाष्य का महत्त्वपूर्ण वाक्य है^१—

परतः परतः प्रीतिप्रकर्षविशेषोऽनुपमगुणो भवति प्रवीचारिणा-
मल्पसंकलेशत्वात् परेऽप्रवीचाराः अल्पसंकलेशत्वात् । स्वस्थाः शीतीभूताः ।
पञ्चविधप्रवीचारोदभवाद्यपि प्रीतिविशेषादपरिमितगुणप्रीति प्रकर्षः परमसुख-
तृप्ता एव भवन्ति ।

कहा गया—जैसे संकलेश कम होता चला जाएगा वैसे-वैसे वृत्ति का उन्नयन होता चला जाएगा । वृत्ति के उन्नयन का हेतु है अल्प संकलेश । संकलेश ज्यादा होता है तो वृत्ति बढ़ती चली जाती है । संकलेश की कमी होती है तो वृत्ति शांत होती चली जाती है । कायप्रवीचार में संकलेश ज्यादा होता है, सुख कम । स्पर्श प्रवीचार में संकलेश कम होता है, सुख ज्यादा । जैसे जैसे प्रवीचार आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे संकलेश कम होगा, सुख बढ़ता चला जाएगा । सबसे ज्यादा सुख मिलेगा अप्रवीचार में । जो अनुत्तर विमान के देवता हैं, ग्रैवेयक हैं, वे स्वस्थ रहते हैं । उनमें उत्तेजना होती ही नहीं है । जब उत्तेजना जागती है, आदमी ऊष्णीभूत हो जाता है । वे देवता शीतीभूत होते हैं । वे अरतिक और आत्मस्थ रहते हैं । पांच प्रकार के जो प्रवीचार हैं, उनमें जितना प्रीति का प्रकर्ष नहीं होता, उससे हजार गुना अधिक प्रीति का प्रकर्ष होता है अप्रवीचार में । वे देवता निरन्तर परमसुख में तृप्त होते हैं । संकलेश है आश्रव

इसका तात्पर्य है—जैसे जैसे अप्रवीचार की ओर बढ़ेंगे, सुख का प्रकर्ष बढ़ता चला जाएगा । प्रवीचार से चले, अप्रवीचार तक पहुंचें, इसका अर्थ है—सुख बढ़ता चला गया, संकलेश घटता चला गया । निष्कर्ष यह है—संकलेश जितना ज्यादा, सुख उतना कम । संकलेश जितना कम, सुख उतना ज्यादा । कहा जाता है—वीतराग को सुख इतना ज्यादा होता है कि दुनिया के सुखों से उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती । हम इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को पकड़ें—संकलेश जितना कम होगा, सुख उतना ही अधिक मिलेगा । वृत्तियों का संचालन होता है संकलेश के द्वारा । संकलेश है आस्रव, क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्तेजना । जब आदमी उत्तेजना में नहीं होता है, तब उसके संकलेश भी कम होगा, उसे कम वस्तु के सेवन में भी प्रीति ज्यादा मिलेगी, सुख ज्यादा मिलेगा ।

साथ-साथ पढ़ें

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है । इसे आत्मविज्ञान का कहें या मनो-

१. तत्त्वार्थ भाष्य ४/९-१०

विज्ञान का। आज यह जरूरी है—आज के मनोवैज्ञानिक कर्मशास्त्र एवं धर्मशास्त्र को पढ़ें, जैन आगम पढ़ें और आगम अध्येता मनोविज्ञान को पढ़ें। इससे मानव स्वभाव पर नया प्रकाश डाला जा सकता है। एक आगम अध्येता के पास तत्त्व तो बहुत गहरे हैं पर समायोजन की कला नहीं है। कैसे मानवीय स्वभाव पर प्रकाश डालना चाहिए? समस्याओं का निदान कैसे खोजना चाहिए? उसका उपचार कैसे करना चाहिए? धर्म और मनो-विज्ञान—दोनों को साथ-साथ पढ़ लिया जाए तो ये बहुत बड़ी समस्याएं समाहित हो जाएंगी। आयुर्वेद के आचार्यों ने भूत का अभिप्राय वायु से लिया है। इस दृष्टि से पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है—एक व्यक्ति का मन कितने रूप ले लेता है और कैसे उसका उपशमन किया जा सकता है।

दो मार्ग

अवदमन, रूपांतरण और उन्नयन—ये तीन अवस्थाएं हैं। इनके साथ एक और जोड़ देनी चाहिए—उपशमन। वृत्ति का उपशमन कैसे करें? इसी उपशमन की प्रक्रिया का नाम है—अल्प संक्लेश की प्रक्रिया। जैसे-जैसे संक्लेश का उपशमन होगा, वैसे-वैसे वृत्ति का परिष्कार होता चला जाएगा। वृत्तियों के परिष्कार का सबसे अच्छा मार्ग है—अध्यात्म, आत्मानुभूति। उसे हम स्वाध्याय कहें या ध्यान। स्वाध्याय का मतलब है—आत्मा के बारे में विशेष स्थिति बनाने वाला अध्ययन। आत्मनिरीक्षण, अनुप्रेक्षा या जप का प्रयोग भी स्वाध्याय है। ध्यान और स्वाध्याय—इन दो मार्गों से वृत्ति का उपशमन हो सकता है। आज के इस तनाव के युग में स्वस्थता, शीतीभूतता और परम सुख-तृप्ति—ये तीन बातें उपलब्ध हो जाएं तो इससे बढ़कर और कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। वृत्ति के उपशमन की साधना से उसे उपलब्ध किया जा सकता है।

घड़ा जहर का, ढक्कन अमृत का

भाव का जगत् भीतर का जगत् है। भाषा का जगत् बाहर का जगत् है। भाव हमारे भीतर रहते हैं और उन्हें हम भोगते हैं। भाषा से हम दूसरे के साथ, समाज के साथ संपर्क स्थापित करते हैं। समाज हमें भाव से नहीं, भाषा से पहचानता है। प्रसिद्ध कहावत है—‘बोल्या कि लाध्या’—व्यक्ति बोलता है और पता चल जाता है कि वह कैसा है ?

अभिव्यक्ति : तीन माध्यम

हमारा सारा संपर्क भाषा के माध्यम से होता है। भाव इतने गूढ़ होते हैं कि उन्हें अमूर्त जैसा कहा जा सकता है। भावों के बाहर के जगत् में प्रगट होने के दो साधन बन सकते हैं—शरीर और वाणी। मन को शरीर के साथ जोड़ दें तो विचार भी एक साधन हो सकता है। विचार की भी रीडिंग होती है। शरीर, वाणी और विचार—ये तीन भाव अभिव्यक्ति के साधन बनते हैं। सबसे पहला है शरीर। शरीर में अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है आंख। दूसरे साधन भी हैं, पर मुख्य है आंख। एक कवि ने ठीक कहा है—

भय चिंता आलस अमन, सुख दुःख हेत अहेत ।

मन महोप के आचरण, दृग् दीवान कहि देत ॥

मन रूपी राजा के जो आचरण हैं, उन्हें आंख रूपी दीवान बता देता है। सारी अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है।

दूसरा माध्यम है विचार। यह बहुत सूक्ष्म है। किसी विशेष व्यक्ति को ही फेस रीडिंग (Face Reading) चेहरे को पढ़ने का और थोट रीडिंग (Thought Reading) विचारों को पढ़ने का अनुभव होता है। सामान्य आदमी के लिए यह बात बहुत कठिन है।

भाव और भाषा

अभिव्यक्ति के जितने भी माध्यम हैं, उनमें सशक्त और स्थूल माध्यम है—भाषा। वह सीधी दूसरों तक पहुंचती है इसीलिए भाषा और भाव का सम्बन्ध बतलाया गया है। भाषा और भाव—इन दोनों के आधार पर मनुष्य का वर्गीकरण कर दिया गया। चार प्रकार के मनुष्य बतलाए गए—

१. कुछ पुरुषों का हृदय भी मधु से भरा हुआ होता है और उनकी वाणी भी मधु से भरी हुई होती है ।

२. कुछ पुरुषों का हृदय मधु से भरा हुआ होता है, पर उनकी वाणी विष से भरी हुई होती है ।

३. कुछ पुरुषों का हृदय विष से भरा हुआ होता है पर उनकी वाणी मधु से भरी हुई होती है ।

४. कुछ पुरुषों का हृदय विष से भरा हुआ होता है और उनकी वाणी भी विष से भरी हुई होती है ।

चार प्रकार के मनुष्य

इन चार प्रकार के पुरुषों की मधु एवं विष कुंभ से मार्मिक तुलना की गई है ।^१

जिस पुरुष का हृदय निष्पाप और अकलुष होता है तथा जिसकी जिह्वा भी मधुरभाषिणी होती है, वह पुरुष मधुभृत और मधु के ढक्कन वाले कुंभ के समान होता है—

हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य महरभाषिणी णिच्चं ।

जम्मि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे ॥

जिस पुरुष का हृदय निष्पाप और अकलुष होता है, पर जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी होती है, वह पुरुष मधु-भृत और विष के ढक्कन वाले कुंभ के समान होता है—

हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभाषिणी णिच्चं ।

जम्मि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥

जिस पुरुष का हृदय कलुषमय होता है, पर जिह्वा मधुरभाषिणी होती है, वह पुरुष विषभृत और मधु के ढक्कन वाले कुंभ के समान होता है ।

जं हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य महरभाषिणी णिच्चं ।

जम्मि पुरिसम्मि विज्जति, से विसकुंभे मधुपिहाणे ॥

जिस पुरुष का हृदय कलुषमय होता है और जिह्वा भी कटुभाषिणी होती है, वह पुरुष विषभृत और विष के ढक्कन वाले कुंभ के समान होता है ।

जं हिययं कलुसमयं जीहाऽवि य कडुयभाषिणी णिच्चं ।

जम्मि पुरिसम्मि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥

चार विकल्प

भाव और भाषा की इस संयोजना से चार विकल्प प्रस्तुत होते हैं—

भाव भी अच्छा है, भाषा भी अच्छी है ।

भाव अच्छा है, भाषा अच्छी नहीं है।

भाव अच्छा नहीं है, भाषा अच्छी है।

भाव भी अच्छा नहीं है, भाषा भी अच्छी नहीं है।

प्रभावित करता है कषाय

सामान्यतः यह माना जाता है—जैसा भाव होता है, वैसी भाषा होती है। भाव अच्छा है तो भाषा भी अच्छी होगी, किन्तु भाव के अच्छा होने पर भी भाषा अच्छी नहीं होती। जैसा भाव है, वैसी भाषा नहीं होती। यह अन्तर क्यों होता है? यह अन्तर डालने वाला तत्त्व कौन-सा है? हम उस तत्त्व को पकड़ें। हमें यह जानना होगा—इंद्रियां और कषाय समाहित हैं या नहीं? इन दो स्थितियों के आधार पर सारा निर्णय होगा। व्याख्याकारों ने इसे रूपक की भाषा में प्रस्तुत किया—हृदय पवित्र है और जिह्वा मधुर भाषी है, इसका तात्पर्य है—घड़ा अमृत का है और ढक्कन भी अमृत का है। हृदय अकल्पित है और जिह्वा कटुभाषिणी है, इसका तात्पर्य है—घड़ा अमृत का है किन्तु ढक्कन जहर का है। प्रश्न आया—यह कैसे हो सकता है? इसका समाधान है कि हृदय की पवित्रता होने पर भी वाणी के साथ कोई कषाय जुड़ जाता है। कषाय सबको प्रभावित करता है। हृदय, मन, वाणी और शरीर—सबको प्रभावित करने वाला है कषाय।

अमृत का घड़ा : अमृत का ढक्कन

हृदय का मतलब है भावतंत्र। हमारा ज्ञानपक्ष माना गया है मस्तिष्क, भाव-पक्ष माना गया है हृदय और क्रियापक्ष माना गया है—शरीरतंत्र। हृदय का मतलब इससे नहीं है, जो धड़क रहा है। यद्यपि इस पर भी भावों का असर होता है। यह भी भावों से प्रभावित होता है। थोड़ा-सा भाव उच्चावच होता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, रक्त की शोधन क्रिया में अन्तर आ जाता है। हृदय पर हर भाव का आघात भी लगता है और उल्लास भी होता है। जैसा भाव वैसा आघात या उल्लास। यह प्रभावित होने वाला हृदय है, किन्तु भावों का जो मूल संवाहक हृदय है, वह हमारे मस्तिष्क का ही एक भाग है हाइपोथैलेमस। वह हृदय पवित्र है, कषाय का उस पर असर नहीं है किन्तु वाणी का अलग तंत्र है। उसका संबंध हृदय से नहीं है। यद्यपि वाणी भाव का प्रतिनिधित्व करती है। भाव आया, भाव से विचार बना फिर भाषा उसे बाहर लाती है। यह क्रिया कुछेक क्षणों में हो जाती है। बहुत त्वरा से क्रिया का संपादन हो जाता है। पता ही नहीं चलता। कुछ व्यक्तियों के हृदय-तंत्र—भाव तंत्र पर कषाय का असर कम होता है। वह उसे प्रभावित नहीं करता है तो भाव भी अच्छा होता है। जो वाणी का तंत्र है, हमारी भाषा पर्याप्त है, उससे जो भाषा-प्राण बनता है,

उस पर भी कषाय का प्रभाव नहीं है। उस समय यह स्थिति बनेगी—अमृत का घड़ा और अमृत का ढक्कन। भीतर में अकलुषित हृदय और वाणी भी मधुर—यह एक दुर्लभ संयोग है। भाव भीतर रहते हैं और भाषा बाहर आती है। भाव और भाषा—दोनों अमृतमय किसी महान् व्यक्ति को उपलब्ध होते हैं।

भावोन्तविद्यते पुंसां, भाषा व्यक्तं नयत्यमुम् ।

द्वयोरपि सुधाभावं, प्राप्तः कश्चिद् महामनाः ॥

अमृत का घड़ा : जहर का ढक्कन

यदि हृदय निर्मल है, किंतु वाक् तत्र कलुषित है, तो हृदय अकलुषित और वाणी कड़वी हो जाएगी। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी वाणी में अवश्य कड़ुआहट होती है, पर हृदय में बड़ी पवित्रता, बड़ा प्यार होता है। यह नहीं मानना चाहिए—जो कड़ुआ बोलता है वह भीतर से भी वैसा ही कड़ुआ होता है। हर बात सापेक्ष होती है। कषाय की संवेदना हमारे भिन्न-भिन्न तंत्रों पर अपना-अपना काम करती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति ही कड़वी है किंतु भीतर में पूरी पवित्रता और प्रगाढ़ निर्मलता बसी है। इसका तात्पर्य है—घड़ा अमृत का है और ढक्कन विष का।

जहर का घड़ा : अमृत का ढक्कन

तीसरी कोटि का व्यक्ति वह है, जिसका हृदय कलुषित है और वाणी मधुर है। घड़ा है जहर का और ढक्कन है अमृत का। ऐसा व्यक्ति बड़ा खतरनाक होता है। दुनियां में सबसे खतरनाक वही है, जिसके भीतर में तो जहर भरा है और ऊपर अमृत का ढक्कन है। इसमें कहीं हित की बात नहीं होती। दूसरे के प्रति बहुत अहित छिपा रहता है। आज का एक शब्द है चमचागिरी। पुराना शब्द है चाटुकारिता। साहित्य में चाटुकारिता को बहुत खराब बतलाया गया है।

राजनीति में जितने भी अनर्थ हुए हैं, वे चमचों या चाटुकारों के द्वारा हुए हैं। पुराने जमाने में राजा मंत्री रखते तो सबसे पहले यह देखते—अमुक व्यक्ति चाटुकार तो नहीं है। यदि वह चाटुकार है तो राज्य का हित नहीं कर सकता।

यह तीसरा विकल्प बहुत खतरनाक है—विष का घड़ा और ढक्कन अमृत का। ऐसे व्यक्ति की कथनी और करनी में भेद होता है। दोनों में कहीं सामंजस्य नहीं रहता।

चौथा विकल्प है—हृदय भी कलुषित और वाणी भी कलुषित। ऐसा व्यक्ति खतरनाक तो है, पर उतना खतरनाक नहीं है। उससे होने वाले खतरे

के प्रति व्यक्ति स्वयं सचेत रहता है ।

क्रोध और माया

इसका हम कषायों के आधार पर विश्लेषण करें । इस वर्गीकरण में माया और क्रोध का बहुत गहरा संबंध प्रतीत होता है । ये दो बातें मनुष्य के वर्गीकरण में प्रभाव डाल रही हैं । जहां अमृत का घड़ा है, जहर का ढक्कन है, वहां क्रोध की उत्तेजना ही परिलक्षित होती है । वहां इतना अनर्थ नहीं है पर तीसरा जो विकल्प है, वहां प्रभाव है माया का । माया सबसे ज्यादा व्यवधान पैदा करने वाली और खतरनाक है । वेदान्ती मानता है—जगत् मिथ्या । माया का नाम ही मिथ्या है । नया शब्द हो गया—माया-मृषा । जब तक द्रव्य अपने केन्द्र बिन्दु में रहता है तब तक वह सत्य है । वह जितना पर्याय के जगत् में चला गया, उतना मिथ्या के जगत् में चला जाएगा । जितना-जितना विस्तार में जाएगा, इसका अर्थ होगा—प्रपंच । माया, प्रपंच और पर्याय-तीनों जुड़े हुए हैं । व्यक्ति जितना प्रपंच में जाएगा, उतना दूसरों के लिए समस्या बनता चला जाएगा ।

अमृत : दो अर्थ

सबसे सरल बिन्दु है ऋजुता । प्रस्तुत संदर्भ में अमृत का एक अर्थ है ऋजुता और दूसरा अर्थ है क्रोध का उपशमन । कषाय को प्रभावित करने वाले भी दो तत्त्व प्रस्तुत हैं—क्रोध और माया । जहां क्रोध का उपशमन है वहां घड़ा अमृत का होगा । जहां माया का उपशमन है, वहां घड़ा अमृत का होगा । जहां क्रोध का उपशमन है पर थोड़ी-बहुत उत्तेजना भी है तो ढक्कन जहर का बन जाएगा । जहां भीतर में माया है, वहां घड़ा जहर का बन गया । क्रोध का उपशमन है, वाणी भी प्रबल नहीं है, वहां ढक्कन अमृत का बन जाएगा । जहां माया भी प्रबल है और वाणी भी प्रबल है, वहां जहर का घड़ा और जहर का ढक्कन हो जाएगा ।

साधना : ऋजुता पर आधारित

इस सूत्र से हम एक बोधपाठ ले सकते हैं—एक साधक व्यक्ति को क्रोध और माया पर इतना नियंत्रण रखना चाहिए, जिससे घड़ा जहर का न बने । महावीर की साधना सत्य पर आधारित है । इसका मतलब है—वह ऋजुता पर आधारित है । महावीर ने ऋजुता पर सारे धर्म को केन्द्रित किया है । जहां ऋजुता नहीं आई, वहां वास्तव में धर्म नहीं आया । स्थान-स्थान पर ऋजुता की बात कही गई, क्रोध के उपशमन की बात कही गई । ये दोनों बातें हमारी साधना में आएँ और कषाय पर नियंत्रण हो, तो परीक्ष्यभाषी की स्थिति बनेगी । परीक्ष्यभाषी वह है, जिसकी इन्द्रियां समाहित हैं, कषाय

शांत हैं । परीक्ष्यभाषी वह होगा, जो तटस्थ है, कहीं कोई पक्षपात नहीं है । जहाँ ये तीन बातें होंगी, वहाँ व्यक्ति परीक्ष्यभाषी होगा और जहाँ व्यक्ति परीक्ष्यभाषी होगा, वहाँ घड़ा भी अमृत का होगा और ढक्कन भी अमृत का होगा ।

कैसे होता है गुणों का विकास ?

विशिष्टता का हेतु

शिष्य ने गुरु से विनम्र प्रार्थना की—‘गुरुदेव ! वह जीवन सफल होता है, जिसमें कुछ विशेषताएं होती हैं, जिसमें गुणों का विकास होता है। मैं भी सफल जीवन जीना चाहता हूँ, विशेषताओं का उद्दीपन करना चाहता हूँ, गुणों की सम्पदा से सम्पन्न होना चाहता हूँ। आप मार्गदर्शन करें कि उसका रास्ता क्या है ?’

‘वत्स ! क्या सचमुच ऐसा चाहता है ?’

‘हां, गुरुदेव !’

‘वत्स ! यदि तू विशेषता को चाहता है, तो विशेषता में मन का नियोजन कर।’

वैशिष्ट्यं यदि प्राप्तव्यं, तद् वैशिष्ट्ये मनः कुरु ।

वैशिष्ट्यं वीक्ष्यमाणो हि, विशिष्टो जायते नरः ॥

अपनी-अपनी दृष्टि

व्यक्ति में दोनों प्रकार की बातें मिलेंगी—अपूर्णता और पूर्णता, विशेषता और न्यूनता। खोजने पर एक भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें सौ में से सौ विशेषताएं हैं और एक भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें सौ में से सौ कमियां हैं। प्रश्न देखने वाले का है। एक आदमी दुर्योधन जैसा है, जिसे पूरी द्वारिका में एक भी विशेषता संपन्न आदमी नहीं मिला। एक दृष्टि है युधिष्ठिर की, जिसे पूरी द्वारिका में कोई बुरा आदमी नहीं मिला। वहां अच्छे-बुरे सब थे, पर दोनों का अपना-अपना दृष्टिकोण था। प्रत्येक व्यक्ति बुराई और अच्छाई का, पूर्णता और अपूर्णता का, विशेषता और अल्पता का संगम है। कोई इसका अपवाद नहीं है। जिस व्यक्ति को कुछ बनना है, वह विशेषता को देखेगा। वह सोचेगा—इसमें यह विशेषता है, इसे मुझे लेना है, ऐसा मुझे बनना है।

प्रत्येक व्यक्ति गुरु है

दत्तात्रेय ने चौबीस गुरु बनाए। भगवान महाधीर ने एक उपदेश दिया—अगर तुम्हें कुछ सीखना है, तो पृथ्वी के समान बनो। यदि

पृथ्वी में विशेषता न हो तो उसकी मुनि के साथ तुलना नहीं होती। कहां मुनि और कहां पृथ्वी ! एक चैतन्यमय और दूसरा मृण्मय। चैतन्यमय को कहा जाता है—पृथ्वी के समान बनो, पर पृथ्वी के लिए कहीं नहीं लिखा गया—तुम मुनि के समान बनो। पृथ्वी में अपनी विशेषता है। पाना तो आदमी को है। जहां मुनि का वर्णन किया वहां मुनि के लिए गुरु ही गुरु बतला दिए—सांप की तरह एक दृष्टि वाला बने। गेंडे के सींग की तरह अकेला रहने वाला बने, हाथी की तरह अपने पास रहने वाला बने। सबकी विशेषताओं का मुनि में नियोजन कर दिया। मेंढे की विशेषता बता दी गई—मेंढा जब पानी पीता है, तो पानी को कभी गुदलाता नहीं है, गंदा नहीं करता है। एकदम धीमे-धीमे पानी पी लेता है। इतने सारे गुरु बतला दिए। इसका अर्थ यह है—इस पृथ्वी पर, इस दुनियां के जितने प्राणी हैं, जितने पौधे हैं, जितने छोटे-बड़े जीव-जन्तु हैं, उन सबमें अपनी-अपनी विशेषता है।

गुणों का उद्दीपन : चार हेतु

भगवान् महावीर ने गुणों के उद्दीपन के चार हेतु बतलाए—

१. अभ्यासवर्तिता—गुण ग्रहण करने का स्वभाव।
२. परछंदानुवर्तिता—पराए विचारों का अनुगमन।
३. कार्यहेतु—प्रयोजन सिद्धि के लिए जनमत को अनुकूल बनाना।
४. कृतप्रतिकृतक—कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करना।

कहा गया—यदि तुम्हें विशेषता का जीवन जीना है, तो देखने वाली दृष्टि का निर्माण करो, जिन विशेषताओं को देखो, उन विशेषताओं को अपने जीवन में संघटित करो। विशेषता को पाना चाहते हो तो विशेषता में मन का नियोजन करो। हम विशेषताओं को देखना शुरू करें। जो आदमी विशेषता को देखता है, वह आदमी स्वयं विशिष्ट बन जाता है। जिस व्यक्ति ने जैसा देखा, वह वैसा बन गया। जिसका ध्यान सदा कमियों में रहा, उसका अपना परिणमन सदा कमियों में होता चला गया। हम परिणमन के सिद्धांत को मानते हैं। पांच गाव हैं—औदयिक, औपशमिक आदि। यह सब परिणमन का सिद्धांत है। जिस प्रकार का सामने चित्र होगा, वैसा परिणमन होता चला जाएगा। ध्यान का भी यही सिद्धांत है। व्यक्ति वैसा बनेगा जैसा चित्र सामने रखेगा। एक अमेरिकन गर्भवती महिला बार-बार अपने कमरे में लगा हब्शी का चित्र देखती थी। उसके ऐसा लड़का जन्मा, जो उस चित्र से मिलता जुलता था। गोरे वंश में हब्शी जैसा काला लड़का जन्मा, यह था परिणमन का परिणाम।

अभ्यासवर्तिता

यह महत्त्वपूर्ण है—हमारे सामने क्या रहे ? हमारे सामने अच्छा

चित्र रहे, हमारे सामने बार-बार अच्छी स्मृति रहे तो व्यक्ति में विशेषता का परिणमन होता चला जाएगा। बार-बार बुराई को देखो तो अच्छाई होने हुए भी बुराई का परिणमन होता चला जाएगा। इस सिद्धांत को भगवान् महावीर ने एक शब्द में रख दिया—अभ्यासवर्तिता—तुम गुण ग्रहण करने वाली दृष्टि का निर्माण करो। गुणों को देखो, इसी का नाम है—अभ्यासवर्तिता। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ है—निकट रहना किन्तु इसका तात्पर्यार्थ यज्ञ नहीं है। निकट रहने का तात्पर्य है विशेषताओं के निकट रहना, निरन्तर विशेषताओं को ग्रहण करने वाली दृष्टि का निर्माण करना। उस गुणग्राहिणी दृष्टि का निर्माण, जो विशेषता को पकड़े, हर वस्तु से उपयोगिता को निकाल ले, काम की चीज को निकाल ले। आदमी विशेषताओं को पकड़ सके, इस दृष्टि का निर्माण होना भी कठिन है। इसीलिए कहा गया—अभ्यासवर्तिता जागे। अगर मैं शब्दों को बदल कर कहूँ तो इसका अर्थ हो जाएगा—विशेषता का सम्मान करने वाली दृष्टि का निर्माण। विशेषता को सम्मान दिया, विशेषता बढ़नी शुरू हो जाएगी। आचार्य एक सामान्य साधु या साध्वी की विशेषता का गुणगान करते हैं। हमारी भाषा में इसे कहते हैं, मुनि को इतना सराहा कि आत्मदर्शी बना दिया। मर्यादा बनाने से मर्यादा कभी चिरजीवी नहीं बनती। इसके लिए हर सदस्य में उस विशेषता को जगाना होता है, उस विशेषता का उद्दीपन करना होता है। यह है विशेषता के उद्दीपन का सूत्र। वैयक्तिक विशेषता हो या संधीय विशेषता। प्रश्न है—विशेषता का उद्दीपन कैसे किया जाए ? उसका पहला सूत्र है—अभ्यासवर्तिता।

परछन्दानुवर्तिता

गुणों के उद्दीपन का दूसरा सूत्र है—‘परछन्दानुवर्तिता।’ इसका तात्पर्य है—वृद्ध लोगों के अनुभव का सम्मान करना। जिन्होंने काफी अनुभव पाए हैं, बहुत गर्म-नर्म देखा है, सहा है, उनके अनुभवों का सम्मान करना, हजारों वर्षों के जो अनुभव हैं, उनका सम्मान करना। हम हजारों वर्ष पुराने आगम क्यों पढ़ते हैं ? अगर हम उन्हें पढ़कर अनुभव को नहीं जानेंगे तो आदमी इतना दरिद्र और विपन्न बन जाएगा कि उसके पास कुछ नहीं बचेगा। अनुभव एक बहुत बड़ी सम्पदा है। दूसरे के अनुभव का, दूसरे के विचार का, दूसरे के परामर्श का सम्मान करना विशेषता के जागरण का एक बहुत बड़ा हेतु बनता है।

कार्यहेतु

गुण के उद्दीपन का तीसरा कारण है—कार्यहेतु। सूत्र संक्षिप्त है पर इसके पीछे जो चिन्तन है, वह गहरा है। यह एक सामाजिक विशेषता

है। जब पांच व्यक्तियों से, दस, सौ या हजार व्यक्तियों से कोई काम लेना है, तब यह सूत्र मूल्यवान् बन जाता है। जब तक उन व्यक्तियों में दाक्षिण्य भाव, दक्षता का भाव पैदा नहीं किया जाएगा, तब तक काम नहीं होगा। उन सबकी मानसिकता को जुटाना यह सबसे बड़ी बात है। चाहे कोई व्यवस्था है, नियम या नियंत्रण है, कुछ भी करना है, सबसे पहले जनमत को तैयार करना होता है। जहां एकाधिनायकवाद रहा, उसमें भी यह क्रम चलता था—अमुक कार्य के लिए जनमत को तैयार करो। जहां लोकतन्त्र है, वहां तो चलता ही है। महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जनमत को तैयार करो। इसीलिए बड़ी-बड़ी सरकारें जो प्रस्ताव लाना चाहती हैं, उसे पहले जनमत के लिए प्रगट कर देती हैं। इसका मतलब है जनमत का अनुकूलन। जब तक जनमत अनुकूल नहीं होगा, स्थितियां ठीक नहीं बनेंगी।

जरूरी है जनमत का अनुकूलन

आगम और व्याख्या साहित्य में बार-बार कहा गया—साधु-साध्वियों के मत को जानना, उनको अनुकूल करना जरूरी है। अगर जनमत अनुकूल नहीं है तो चाहे लोकसभा में कानून बना दो, प्रस्ताव पारित कर दो, कुछ परिणाम नहीं आएगा। आजकल सांप्रदायिकता विरोधी मत को सरकारें अनुकूल नहीं बना पा रही हैं। जातीयता के बारे में गांधीजी से लेकर आज तक जो आंदोलन चला, उसका परिणाम कितना आया? संविधान में भी कहा गया—छुआछूत को मिटा दिया जाए पर भयंकर छुआछूत चल रही है। कारण क्या है? कारण यही है—जनमत अनुकूल नहीं बना। दाक्षिण्य भाव पैदा करना अपेक्षित है। किसी काम को सिद्ध करने के लिए जनमत का अनुकूलन नहीं होता है, तो ऐसा धोखा चलता है फिर कोई काम नहीं होता। जब तक हृदय में यह बात नहीं बैठती—मुझे यह काम करना है मुझे धर्म और पुण्य करना है, तब तक कोई भी कार्य सफल नहीं होता। हर नियम और नियमन के पीछे जनमत का अनुकूल होना जरूरी है, इसीलिए आज बहुत से देशों में हृदय परिवर्तन या ब्रोन वाशिंग के विभिन्न कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। विशेषताओं को अर्जित करने के लिए विशेषता का सम्मान करना, दूसरों के अनुभवों का सम्मान करना और सबका सम्मान करना अपेक्षित है, यह तथ्य आज अधिक समझ में आ रहा है।

उपकारी का सम्मान

गुणों के उद्दीपन का चौथा सूत्र है—उपकार का सम्मान करना। विशेषता का सम्मान करना सीख जाएं, तो हमारे जीवन में अपने आप विशेषता का अवतरण शुरू हो जाएगा। जिस व्यक्ति ने थोड़ा-सा उपकार किया

है, विकट परिस्थिति में सहयोग और सहारा दिया है, उसके प्रति कृतज्ञता का भाव जागना चाहिए। अपने विकास में जिन व्यक्तियों का योग रहा है, उनके उपकार की सदा स्मृति रहनी चाहिए। जो व्यक्ति उपकारी के उपकार को भूल जाता है, वह कभी महान् नहीं बनता। महान् वही बनता है, जो उपकारी के उपकार का सम्मान करता है। यह कृतज्ञता का भाव जीवन में गुणों के अवतरण का स्वर्णसूत्र है। जो व्यक्ति इस सूत्र को हृदयगम कर लेता है, वह अपने विकास का राजमार्ग उपलब्ध कर लेता है।

महानिर्जरा महापर्यवसान

सेवा : प्राचीन परम्परा

जैन शासन में सेवा को अतिरिक्त मूल्य दिया गया है। तीन मुख्य प्राचीन परंपराएं हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। प्रश्न होता है—सेवा के बारे में इनमें क्या परम्परा है? पहले संन्यास-धर्म के क्षेत्र की बात करें। वैदिक संन्यासियों में सेवा जैसी बात नहीं मिलेगी। इसका कारण यह है—वहाँ संघबद्धता नहीं थी। कहा गया—अपनी साधना करो। ऋषि है तो सपत्नीक रहो और अरण्यवासी बनकर रहो। अकेले साधना करो। वैदिक परम्परा में सेवा की बात नहीं आती। संघबद्ध जीवन आता है दो परम्पराओं में। मूलतः संघबद्धता का श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् पार्श्व को दिया जाता है। पार्श्व ने संघबद्ध साधना का सूत्रपात किया। जैन परम्परा संघबद्ध है और बौद्ध परम्परा भी पार्श्वनाथ की ऋणी नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। बौद्ध परम्परा भी संघबद्ध साधना में संलग्न है। इन दोनों में भी संघ की सेवा का महत्त्व किसमें ज्यादा दिया गया? बौद्ध परम्परा में आचार्य, उपाध्याय और अन्तेवासी—ये तीन श्रेणियां हैं। कहा गया—अन्तेवासी आचार्य और उपाध्याय की सेवा करें। आचार्य और उपाध्याय भी अन्तेवासी की सेवा करें। जहाँ तक मैंने पढ़ा है, सेवा का बौद्ध साहित्य में इतना ही उल्लेख मिलता है।

नोबल पुरस्कार

जैन साहित्य में सेवा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। आगम और व्याख्या साहित्य के कम से कम दस प्रतिशत भाग में गुंफित है सेवा का प्रकरण। स्थानांग में यहाँ तक लिखा गया—महानिज्जरे महापज्जवसाणे—सेवा करने वाला महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है। इतनी बड़ी निर्जरा और इतना बड़ा पर्यवसान यानी संसार का अन्त या मोक्ष का स्वामित्व। सेवा का इतना महत्त्व बतलाया। निर्जरा की बात तो होती है पर महानिर्जरा का अर्थ एक प्रकार से हमारा नोबल पुरस्कार है। शायद अब तक यह पुरस्कार किसी को नहीं दिया गया है पर यह सबसे बड़ा सम्मान है। यह सम्मान भी आत्मा का सम्मान है, औपचारिक सम्मान नहीं।

महानिर्जरा : दस हेतु

प्रश्न है—महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला कौन होता है ?

स्थानांग सूत्र में मुनि के लिए महानिर्जरा महापर्यवसान के दस हेतु बतलाए हैं—

१. अग्लान भाव से आचार्य का वैयावृत्य
२. अग्लान भाव से उपाध्याय का वैयावृत्य
३. अग्लान भाव से स्थविर का वैयावृत्य
४. अग्लान भाव से तपस्वी का वैयावृत्य
५. अग्लान भाव से रोगी का वैयावृत्य
६. अग्लान भाव से नवदीक्षित का वैयावृत्य
७. अग्लान भाव से कुल का वैयावृत्य
८. अग्लान भाव से गण का वैयावृत्य
९. अग्लान भाव से संघ का वैयावृत्य
१०. अग्लान भाव से साधमिक का वैयावृत्य

इन दसों की सेवा करने वाला महानिर्जरा महापर्यवसान वाला होता है ।

सेवा : व्यापक संदर्भ

हम इसे व्यापक संदर्भ में देखें । सेवा करने के कई हेतु होते हैं । एक व्यक्ति अपेक्षा की दृष्टि से सेवा करता है । वह अपनी किसी अपेक्षा की पूर्ति के लिए सेवा करता है । दूसरा विकल्प है—कोई कमजोर है, असमर्थ है, तो उसकी सेवा करनी चाहिए । तीसरा विकल्प है—कोई दयनीय स्थिति में है, उसकी सेवा करनी चाहिए । चौथा विकल्प है—जो मानसिक दृष्टि से बहुत दुर्बल है, उसकी सेवा करनी चाहिए । पांचवां विकल्प है—किसी के मन में कोई दैन्य भाव आ गया, सहायता का भाव आ गया, उसकी सेवा करनी चाहिए । छठा विकल्प है—परस्पर में संघर्ष हो गया, किसी व्यक्ति का मन आहत हो गया, उस अवस्था में सेवा करनी चाहिए । एक विकल्प है—कुल, गण और संघ की सेवा करनी चाहिए । यह सेवा विशेष समय में की जाती है । कुछ वर्ष पूर्व तेरापंथ धर्म संघ में थोड़ी समस्या पैदा हो गई, संघर्ष पैदा हो गया । उस समय जिन लोगों ने सेवा की, आचार्यवर ने उनकी न जाने कितनी बार प्रशंसा की होगी ? ऐसे कुछ अवसर आते हैं, जहां कुल, गण और संघ की सेवा की जाती है । एक विकल्प है—शिक्ष की सेवा करनी चाहिए । जो सर्वथा नया है, जिसने नया जीवन जीना शुरू किया है । बिरुकुल बच्चे की जैसी सेवा है उसकी । उसे सब कुछ नये बच्चे की भांति

सिखाना पड़ता है। एक विकल्प है—सार्धमिक की सेवा करनी चाहिए। यह दस प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण है। विभिन्न अपेक्षाओं के साथ इनका वर्गीकरण किया गया। सब प्रकार की सेवा की बात इसमें आ गई।

सेवा का महत्त्व

एक मुनि के मन में प्रश्न उभर सकता है—हम साधु हो गए, मोह-ममत्व छोड़ा, परिवार छोड़ा, अपनी साधना में लीन रहने के लिए यहाँ आए हैं और वही भ्रंशत सेवा का करना है, तो फिर फर्क क्या पड़ा? यही करना था तो अपना परिवार, घर, माता-पिता को क्यों छोड़ा? उनकी सेवा छोड़ी और यहाँ दीक्षित हो गए पर काम तो वही रहा सेवा करने का आए थे आत्मा का कल्याण करने के लिए और लगा दिया सेवा में। इस प्रश्न के सदर्थ में जब हम महानिर्जरा महापर्यवसान—इस सूत्र को देखते हैं, तब लगता है—घर और परिवार का प्रश्न कहां है? ध्यान और स्वाध्याय करने वाले के भी निर्जरा होती है किन्तु जितना प्रोत्साहन सेवा को दिया गया, उतना ध्यान और स्वाध्याय को नहीं दिया गया। शायद संगठन और संघ-बद्धता की दृष्टि से भी ध्यान और स्वाध्याय को उतना मूल्य नहीं दिया गया, जितना सेवा को दिया गया। कारण स्पष्ट है—हमारा विश्वास है संघबद्ध साधना में और संघ को एकीभूत रखने के लिए सबसे बड़ा माध्यम है सेवा।

सेवा और संघ

एक भाई ने बताया—मेरे पिताजी अमुक परम्परा में मुनि बने थे। वृद्धावस्था में उनकी सेवा की कोई व्यवस्था नहीं रही। वे तकलीफ पा रहे थे अतः उन्हें वापस घर ले आया। सेवा का महत्त्व बहुत बड़ा है। कुछ भाई आचार्यश्री से बोले—वृद्ध साधु-साधिवियों को जहाँ रखेंगे, वहाँ हम पांच-सात नौकर रखेंगे, वे उनकी सेवा करेंगे। अपने सुभाव को दोहराते हुए बोले—गुरुदेव! आपको हमारा यह चिन्तन कैसा लगा? उन भाइयों ने सोचा—आचार्यश्री प्रशंसा करेंगे? बीमार हैं साधु-साधिवियाँ और सेवा करेंगे नौकर-चाकर!

आचार्यश्री ने इस सुझाव को अस्वीकार करते हुए कहा—जिस दिन यह बात सोचेंगे, उस दिन संघ-विकास सपना बन जाएगा।

इस स्थिति में साधु-साधिवियों और माता-पिता में फर्क ही क्या रहा? बूढ़े मां-बाप की सेवा आज कौन करता है? लड़के तो कर नहीं सकते। उन्हें दुकान पर जाना है, व्यापार-व्यवसाय करना है। सेवा नौकर-चाकर ही करेंगे। जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था होती है, वहाँ संघ के विकास की बात नहीं सोची जा सकती। संघ-विकास के लिए एक अनिवार्य बात है, सेवा का विकास।

उद्देश्य एक ही है

आज सारी दुनिया में सेवा के मामले में सबसे आगे आता है ईसाई धर्म । सेवा में वह आगे है पर एक बात की कमी है—सेवा के साथ आत्मा और अध्यात्म की बात नहीं बताई जाती । इस सेवा में महानिर्जरा वाली बात नहीं आएगी । वह तब आएगी जब आध्यात्मिकता साथ में जुड़ जाए । व्यक्ति साधु बनता है संवर और निर्जरा के लिए । भगवान् ने स्वयं यह फतवा दे दिया—सेवा करने वाला महानिर्जरा करने वाला होता है इसलिए व्यक्ति को यह चिन्ता नहीं होनी चाहिए—मैं साधना कम कर सका, स्वाध्याय कम कर सका । उनका भी उद्देश्य है निर्जरा । सबका उद्देश्य एक ही है ।

सेवा : व्यापक अर्थ

यह बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है संगठन और शासन का । यदि संघबद्ध साधना करनी है तो सेवा को महत्त्व देना होगा । यह कर्त्तव्य और बड़ा धर्म है । सेवा के प्रकार अलग-अलग हो सकते हैं । आचार्य के तीन भव माने जाते हैं और मुनि के पन्द्रह । प्रश्न हो सकता है—ऐसा क्यों माना गया ? आचार्य बहुत बड़े सेवक हैं । आचार्य को बहुत बड़ी सेवा करनी होती है । सेवा का मतलब शरीर की सेवा ही नहीं है । सेवा का अर्थ है—जिस मार्ग के लिए मुनि बना है, उसमें सहयोग देना । सबसे उपयुक्त शब्द है सहयोग, परस्परता का निर्वाह करना । आचार्य कितने लोगों को सहयोग देते हैं ? आचार्य इतने बड़े महानिर्जरा महापर्यवसान वाले होते हैं कि तीन भव में ही उनका मोक्ष हो जाए । मुनि में उतना सामर्थ्य नहीं है और उतना करने का अवकाश भी नहीं है इसलिए उसके लिए पन्द्रह भव बतलाए गए । सेवा का व्यापक अर्थ है—पढ़ाना, लिखाना, वाचना देना, संयम में स्थिर करना, चरित्र का विकास करना, आहार-पानी की व्यवस्था करना, संग्रह-उपग्रह करना, जीवन का निर्माण करना आदि । यह सारी सेवा है ।

प्राथमिकता की दृष्टि

सेवा के इन प्रकारों को अगर दो भागों में बांट दें तो दो वर्ग बन जाएंगे—साधनिक की सेवा और ग्लान की सेवा । बीमार और ग्लान की सेवा को भी बड़ा महत्त्व दिया गया । जो शरीर से ग्लान नहीं है, किन्तु उन्हें बहुत सारी अपेक्षाएं हैं, ऐसी सेवा करना भी एक बहुत महत्त्व का काम है । अगर हम प्राथमिकता की दृष्टि से चलें तो ग्लान की सेवा जरूरी है । उसके बाद जरूरी है, कुल की सेवा, गण और संघ की सेवा । उसमें सबसे पहले आती है आचार्य की सेवा । संघ और संघपति—ये दो स्वस्थ हैं, तो आगे सारी बातें ठीक चलेंगी । एक कर्त्तव्य होता है तपस्वी, या शिक्षक सेवा का ।

निदर्शन है तेरापंथ

हम पच्चीस वर्ष की परम्परा का विश्लेषण करें तो बड़ा श्रेय जाएगा आचार्य भिक्षु को, जिन्होंने आगम के अनेक सूत्रों को व्यावहारिक रूप दिया है। आचार्य भिक्षु ने सेवा के बारे में जितनी व्यवस्था की, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। हम इस बात को जानते हैं—सिद्धांत सिद्धांत होता है किंतु कोई भी सिद्धांत व्यवस्था का सहारा पाए बिना क्रियान्वित नहीं हो सकता। सबसे बड़ी कमी यही है—बहुत सी अच्छी बातें हैं पर उन्हें व्यवस्था का योग नहीं मिलता। व्यवस्था के कंधों पर चढ़े बिना कोई भी सिद्धांत अपने पैरों से चल नहीं सकता। हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है—महानिर्जरा और महापर्यबसान का जो सिद्धांत है, उसकी क्रियान्विति का एक संपूर्ण उदाहरण है—तेरापंथ। यह सिद्धांत और यह गौरवशाली परंपरा सदा आगे बढ़े, इसका हम सदा मूल्यांकन करते रहें तो सेवा की परम्परा जीवन्त बनी रहेगी।

क्रियावाद

धर्म अपने भीतर से फूटता है। बाहर में उसे जीया जाता है या स्वीकारा जाता है। एक व्यक्ति ने कहा—मैं जैन धर्म को जी रहा था, मुझे बाद में पता चला कि यह जैन धर्म है। धर्म सुनने से ही नहीं मिलता। धर्म बिना सुने भी मिलता है। इस सचाई को हम जान लें तो क्रियावाद और अक्रियावाद की बात समझ में आ जाएगी।

क्रियावाद : अक्रियावाद

बहुत पुराना सिद्धान्त है क्रियावाद और अक्रियावाद का। आज क्रियावाद और अक्रियावाद का अर्थ ही छूट-सा गया है। यदि आज की भाषा में इसका अर्थ किया जाए तो क्रियावाद का अर्थ होगा—अवचेतनवाद या कर्मवाद और अक्रियावाद का अर्थ होगा—परिस्थितिवाद। जो कुछ हो रहा है, उसमें भीतर का कोई कारण नहीं, सिर्फ बाहरी कारण हैं। हमारा आचरण, व्यवहार या जो घटनाएं घटित हो रही हैं, जीवन में जो कुछ हो रहा है, उसका हेतु है परिस्थिति। जैसी परिस्थिति होगी, वैसा आदमी बन जाएगा। एक दर्शन था, जिसका आधार तत्त्व था—जो भी हमारा आचरण हो रहा है, उसका कारण बाहर में मत खोजो, भीतर खोजो। यह है क्रियावाद का दृष्टिकोण। इसे कर्मवाद भी कहा जा सकता है और मनोविज्ञान की भाषा में अवचेतनवाद भी।

मनोविज्ञान में

जब तक मनोविज्ञान का विकास नहीं हुआ था, तब तक केवल बाहरी कारण ही खोजा जाता था। विज्ञान के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने एक नया दरवाजा खोला—सारी व्याख्या चेतन मन के आधार पर मत करो। जीवन की व्याख्या करनी है तो हमें भीतर में जाना होगा। भीतर में जो अवचेतन मन है, उसके आधार पर जीवन की व्याख्या करो। अन्यथा जीवन की व्याख्या हो नहीं सकती। यह जाने-अनजाने कर्मवाद या क्रियावाद का सिद्धान्त मनोविज्ञान के क्षेत्र में मान्य हो गया। सूत्रकृतांग सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है—जो आत्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, आश्रय और संवर को जानता है, वह क्रियावाद की व्याख्या करने में समर्थ है। जो इन आध्यात्मिक

तत्त्वों को नहीं जानता, वह क्रियावाद की व्याख्या नहीं कर सकता ।

अज्ञानं जो जाणइ सो य भोगं, जो आगति जाणइ पागति च ।

जो सासयं जाण असाखयं च, जाति मरणं च चपणोववातं ॥

अहो वि सत्ताण विट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।

दुबलं च जो जाणइ णिज्जरं च, सो भासिउमरिहति किरियवादां ॥'

कारण भीतर है

क्रियावाद की व्याख्या के लिए हमारे आन्तरिक तत्त्व हैं—सवर, निर्जरा, बन्ध, पुण्य-पाप और हमारी आत्मा । इन सबको जाने बिना कर्मवाद की व्याख्या नहीं की जा सकती । इन सारे संदर्भों को देखें तो निष्कर्ष की भाषा यह आएगी—जो आचरण और व्यवहार के लिए अन्तरंग कारण को जिम्मेदार मानता है, वह क्रियावादी है और जो केवल परिस्थिति को जिम्मेदार मानता है, वह अक्रियावादी है । भगवान् महावीर क्रियावादी थे, क्रियावादियों में भी प्रमुख थे । उन्होंने आत्मा और कर्म का प्रतिपादन किया । कर्म हमारे भीतर में है । अर्थात् विद्यमान है । उसके प्रकंपन हमारे सारे व्यवहार का संचालन करते हैं । दो सगे भाई हैं । एक हिंसा करता है, दूसरा नहीं करता । ऐसा क्यों ? दो सगे भाइयों में इतना अन्तर क्यों ? दोनों को समान परिस्थिति मिली, एक जैसा पालन-पोषण मिला, समान खाद्य-पदार्थ मिला फिर यह अन्तर क्यों ? एक लयघोष बन गया और एक विजयघोष बन गया । एक युद्ध की भूमि में हिंसा कर रहा है, एक अहिंसा का प्रचार कर रहा है, इसका कारण क्या है ? इसका कारण भीतर में खोजना होगा ।

क्रिया : गति

महात्मा पतंजलि के अनुसार वह कारण है वृत्ति । उसे संज्ञा कहें या क्रिया कहें । मूलतः क्रिया का अर्थ रज्जु है गति । तत्त्वार्थ सूत्र में पांच अस्तिकायों का वर्णन है । तीन अस्तिकायों को निष्क्रिय बताया गया है । अक्रिया का अर्थ गतिशून्य भी है । गति है, तो क्रिया है अन्यथा क्रिया नहीं है । हमारे भीतर में एक गति हो रही है, निरंतर उसके प्रकंपन चल रहे हैं, वे ही प्रकंपन जब बाहर आते हैं, तब हमें प्रभावित करते हैं । जैसे कर्म के प्रकंपन भीतर से आते हैं, वैसे ही हामोम बनते हैं, वैसे ही केमिकल बनते हैं, वैसे ही न्यूरोट्रांसमीटर बनते हैं । मूलतः प्रभावित करने वाले भीतर बैठे हैं । बाहर से तो केवल प्रतिध्वनि बर रही है ।

क्रिया : पांच प्रकार

क्रियावाद का सिद्धान्त है—भीतर को पकड़ो । भीतर में जो प्रकंपन हो रहे हैं, उन्हें देखना है । यह क्रियावाद मनोविज्ञान की भाषा में

अवचेतनवाद है। पतंजलि की भाषा में यह वृत्तिवाद है।

स्थानांग सूत्र में क्रिया के पांच प्रकार बतलाए गए हैं—

१. आरंभिकी ।
२. पारिग्रहिकी ।
३. माया प्रत्यया ।
४. अप्रत्याख्यान क्रिया ।
५. मिथ्यादर्शन प्रत्यया ।

आरंभिकी क्रिया

एक क्रिया है आरंभिकी क्रिया, हिंसा करने वाली क्रिया। इसका अर्थ होगा—वह हमारा अन्तर का तत्त्व, जो प्राणी को हिंसा के लिए प्रेरित कर रहा है, हिंसा को अभिव्यक्ति दे रहा है, हिंसा में हमें प्रवृत्त करा रहा है। उस प्रवृत्ति का नाम है—आरंभिकी क्रिया।

सूक्ष्म सिद्धान्त

कायिकी क्रिया के दो भेद किए गए—अनुपगत कायिकी और दुष्प्रवृत्त कायिकी। एक आदमी काया से हिंसा कर रहा है। यह स्पष्ट है कि उसने काया से दोष किया है। एक आदमी बिलकुल शांत बैठा है किन्तु अपनी काया से किसी प्रकार की हिंसा या पापाचार करने का प्रत्याख्यान नहीं है, उसने काया को निवृत्त नहीं किया है तो भी वह कर्म का बंध कर रहा है शरीर के द्वारा। यह है सबसे सूक्ष्म बात। बाहरी हिंसा आदमी कम करता है। जैन धर्म की विचारधारा का हृदय है—जिस व्यक्ति ने अपनी काया को हिंसा से उपरत नहीं किया है, वह चौबीस घंटे हिंसक बना हुआ है। वह प्रतिक्षण हिंसा कर रहा है, यह एक सूक्ष्म सिद्धान्त है। जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त है—केवल प्रवृत्ति को पाप मत मानो किन्तु वहां तक जाओ, जहां प्रवृत्ति को पाप की प्रेरणा मिलती है। उसे खोजो।

परिमार्जन किसका ?

प्रश्न आया—परिमार्जन किसका करना है ? परिष्कार किसका करना है ? क्रोध आ रहा है, उसे बदलना है या जो भीतर में क्रोध को उत्प्रेरित कर रहा है, उसे बदलना है ? कारण को बदलना है या कार्य को बदलना है ? जब तक भीतर के कारण को नहीं पकड़ा जायेगा तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। महावीर ने इस भाषा में—अग्गं च मूलं च विगिच्च धीरे। भगवान महावीर मूल का छेदन करने वाले थे। एक अग्र है और एक मूल। एक तो वृक्ष का अग्र भाग है, जहां पत्ते

और शाखाएं हैं। एक है मूल भाग, जहां जड़ है। अगर उपचार फूलों-पत्तों का किया जाएगा, तो समस्या का समाधान नहीं होगा। जब तक वृक्ष हैं वे फिर हरे होते जाएंगे। मूल उपचार करना है जड़ का। उसे पकड़ना है। यह है क्रियावाद का सिद्धान्त।

भगवान् महावीर को मूलस्पर्शी सिद्धान्त का प्रणेता माना जाता है। किसी भी समस्या के मूल कारण का जब तक समाधान नहीं होता, तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। ऊपरी या अस्थायी समाधान ज्यादा टिक नहीं पाता।

पारिग्रहिकी क्रिया

दूसरी क्रिया है परिग्रह की क्रिया। वस्तु का संग्रह करना यह मूल समस्या नहीं है। मूल समस्या है परिग्रह की एक अवधारणा बनना। एक ऐसा संस्कार हमारे भीतर है, जो निरंतर संग्रह करने की प्रेरणा दे रहा है।

एक सेठ मर गया। लड़के ने पूछा—मुनीमजी! बताओ। सेठजी ने कितना धन जमा किया है? मुनीमजी ने बताया—सात पीढ़ी बैठकर खाएं इतना धन छोड़ गए हैं। लड़का उदास होकर बोला—आठवीं पीढ़ी का क्या होगा?

यह आठवीं पीढ़ी की अवधारणा बनी, तब समस्या आई। जो भीतर में परिग्रह का संस्कार है, जब तक उसका परिष्कार नहीं होगा, तब तक कुछ नहीं होगा। वह साधु भी बन जाए तो परिग्रह की वृत्ति नहीं छूटेगी।

अप्रत्याख्यान क्रिया

जब हम काम करते हैं तभी क्रिया होती है। यह गलत धारणा है। इस धारणा को तोड़ने के लिए अप्रत्याख्यान क्रिया पर ध्यान देना होगा। अप्रत्याख्यान क्रिया हमारे अन्तरंग का प्रश्न है। अविरति छूटी नहीं है। भीतर में एक इच्छा बराबर विद्यमान है। इस आधार पर हम समझ सकते हैं—पांच क्रियाएं या पच्चीस क्रियाएं—अविरति के ही दो रूप हैं। एक रूप है बाहर का और एक रूप है भीतर का। बाहर का रूप जब आचरण में आता है, तब हम कहते हैं—क्रिया हो गई। दूसरा रूप है भीतर का। एक आदमी कोई प्रत्याख्यान नहीं करता, किन्तु उसमें सदा लालसा बनी रहती है। वह शब्द रूप, रस, रंग और पदार्थ का संग्रह करता रहता है। इसका कारण है—अप्रत्याख्यान क्रिया भीतर में काम कर रही है। जब तक विषयों के प्रति भीतर में अरुचि पैदा नहीं हो जाती, तब तक अप्रत्याख्यान क्रिया काम करती रहती है।

क्रिया : दो रूप

क्रिया का विश्लेषण करें तो साफ होगा—क्रिया का एक वह रूप है,

जो बाहर प्रगट होता है, उसे हम आचरण या व्यवहार कहते हैं। क्रिया का एक वह रूप है, जो चेतन मन पर नहीं आता, अवचेतन मन पर अपना काम कर रहा है। वह हमारी आन्तरिक क्रिया का रूप है। दोनों क्रियाओं के संबंधों को ठीक समझें तो जैन दर्शन का विशाल और सूक्ष्म दृष्टिकोण, जो केवल स्थूल को नहीं, सूक्ष्म को पकड़ता है, हमारे सामने बहुत स्पष्ट हो जाएगा।

व्यवस्था का अभाव : विग्रह का जन्म

संघ और व्यवस्था—दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। व्यवस्था के बिना संघ नहीं चलता और संघ के बिना व्यवस्था नहीं चलती। दोनों का सम्बन्ध है। तेरापन्थ धर्मसंघ चल रहा है, व्यवस्था के साथ चल रहा है। भगवान् महावीर का दर्शन व्यवस्था का दर्शन था। संघ को सुव्यवस्थित रूप में चलना चाहिए, परस्पर शांतिपूर्ण सहवास होना चाहिए, विग्रह नहीं होना चाहिए—यह अनिवार्य अपेक्षा है।

विग्रह : पांच कारण

प्रश्न होता है—साधु बने, बर-बार छोड़ा, आत्म-साधना के लिए चले तो फिर भला विग्रह की क्या बात हो सकती है? किसी संघ में विग्रह क्यों होता है?

स्थानांग सूत्र में विग्रह के पांच कारण बतलाए हैं—^१

१. गण में आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग न करना।
२. यथारात्मिक कृतिकर्म का प्रयोग न करना।
३. जो सूत्रपर्यवजात धारणा किए हुए हैं, उनकी गण को उचित समय पर वाचना न देना।
४. रोगी या नवदीक्षित साधु का वैयावृत्य कराने में जागरूक न होना।
५. गण को पूछे बिना क्षेत्रान्तर संक्रमण करना।

आज्ञा और धारणा का प्रयोग

पहला कारण है—आचार्य या उपाध्याय यदि गण में आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग नहीं करता है तो संघ में विग्रह पैदा हो जाता है। यह आधारभूत बात है। संघ चलता है आज्ञा और धारणा के आधार पर। यदि उसका प्रयोग या पालन नहीं होता है तो संघ में अव्यवस्था या बिखराव का प्रसंग प्रस्तुत हो जाता है।

श्रुतदान

दूसरा कारण है—आचार्य या उपाध्याय सूत्रों के गम्भीर रहस्यों को

धारण करता है। यदि वह समय-समय पर शिष्यों को उन रहस्यों को पढ़ाता नहीं है तो विग्रह पैदा होता है। आज अनेक साधु-साधवियां इस भाषा में सोचते हैं—जैन विश्व मारती में जाएं, प्रशिक्षण लें। आ सकते हैं या नहीं, यह अलग स्थिति है, पर दस-बीस साधु-साधवियों की यह भावना हमारे पास पहुंची है। कारण क्या है? जो आचार्य श्रुत-पर्यायों को जानता है, धारण करता है, वह शिष्यों को उनकी वाचना नहीं देता है, तो वहां विग्रह खड़ा हो जाता है। योगक्षेम वर्ष में जो स्वाध्याय-अध्ययन का क्रम चला, वह गण की मजबूती का या संघ में विग्रह न हो, इसका एक बहुत महत्वपूर्ण क्रम था। इससे साधु-साधवियों को यह सन्तोष रहता है—हम दरिद्र नहीं हैं।

संघ में क्यों रहें ?

आचार्यवर सौराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। वहां अनेक संघों की साधवियां मिलीं। उन्होंने अपनी भावना व्यक्त की—महाराज ! क्या करें ? हमारे संघ में साधु तो रहे नहीं, केवल साधवियां हैं। हमें कोई पढ़ाने वाला नहीं है। उन्होंने प्रश्नों का तांता लगा दिया। ऐसा क्यों हुआ ? कारण यही था—उनके प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई नहीं था।

जब आचार्य या उपाध्याय श्रुतधर नहीं होता है, श्रुतदाता नहीं होता है, तब उनके शिष्यों में कितनी विपन्नता या दरिद्रता की स्थिति होती है ! जो श्रुत-पर्यायों को धारण करता है, वह आचार्य यदि यह सोचे—मैं अगर दस-बीस शिष्यों को तैयार कर दूंगा तो लोग कहेंगे—देखो ! कितने अच्छे बोलने वाले हैं। मेरी अवमानना होगी। इसलिए अच्छा है, मैं इनको तैयार ही न करूं। इस स्थिति में शिष्यों में विग्रह हो जाता है। वे सोचते हैं—आचार्य हमें बताते नहीं हैं, सिखाने नहीं हैं। ऐसे संघ में हमें क्यों रहना चाहिए।

रत्नाधिक का सम्मान

विग्रह का एक कारण है—गण में जो दीक्षा-पर्याय में बड़े साधु हैं, रत्नाधिक हैं, उनका सम्मान न करना। यह विग्रह का एक बड़ा कारण है। भगवान् महावीर के समय में भी कुछ ऐसी स्थितियां आई थीं—जो बड़े कुल में पैदा होते, वे छोटी जाति वाले मुनि को वंदना नहीं करते थे। भगवान् ने उपदेश दिया—जो गोत्र या जाति का अभिमान करते हैं, वे स्वयं छोटे बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने प्रारम्भ से ही अपने दो साधुओं को संघ में सबसे बड़ा रखा। वह इस सूत्र की अनुपालना है। तेरापन्थ की परम्परा है—जब बड़े साधु विहार कर आते हैं, तब आचार्य भी अपना आसन छोड़कर उन्हें वन्दना करते हैं। यह सम्मान की परम्परा है। जिस संघ में यह नहीं है, वहां बड़ी विचित्र स्थिति बन जाती है।

सेवा

चौथा कारण है—जिस संघ में ग्लान और नवदीक्षित की सेवा नहीं की जाती है, उस गण में विग्रह पैदा हो जाता है। सेवा एक आश्वासन है। एक व्यक्ति घर छोड़कर पूरा जीवन देने आता है, अपने साथ कुछ भी नहीं लाता है। उसके जीवन का आश्वासन न हो, तो विग्रह को अवकाश मिल जाएगा। व्यक्ति के मन में यह चिन्तन आ जाता है—अगर बीमार हो जाऊंगा, तो क्या होगा? इस स्थिति में विग्रह हो सकता है। इस अर्थ में तेरापन्थ धर्म-संघ एक बड़ा आश्वासन है। इसके सदस्य को कोई भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

संघ का मत जानना

विग्रह का एक कारण है—आचार्य या उपाध्याय संघ को पूछे बिना, संघ की राय लिए बिना यात्रा करते हैं, महत्त्वपूर्ण निर्णय ले लेते हैं तो भी संघ में विग्रह पैदा हो सकता है। आचार्यवर ने दक्षिण की यात्रा की। उससे पहले संघ से अनुमति ली। संघ महामहिम है। समय-समय पर संघ का मत जानना, उसकी मनोदशा को जानना, आचार्य का कर्तव्य होता है। आचार्य और संघ का सम्बन्ध एक उपनिषद् होता है।

चिर-जीवन के सूत्र

संघ में विग्रह होने के ये पांच कारण हैं। इन कारणों का निवारण करने का प्रयत्न तेरापन्थ ने किया है। दूसरे गण भी करते होंगे पर तेरापन्थ संघ का जो मजबूत आधार बना है, उसका कारण यही है। आचार्य संघ में व्यवस्था के प्रति बहुत जागरूक रहता है। जो श्रुत ज्ञात है, उसे शिष्यों को पढ़ाने की पूरी व्यवस्था करते हैं। सेवा की बात को बहुत महत्त्व दिया जाता है।

ये पांच कारण गण की मजबूती की दृष्टि से, पारस्परिक तादात्म्य की दृष्टि से बहुत जरूरी हैं। ये पांचों सूत्र संघ के चिरजीवी होने का हेतु बनते हैं।

बोधि-दुर्लभता

शाश्वत मनोवृत्ति

विशेषता और अल्पता, पूर्णता और अपूर्णता—ये युगल जीवन में साथ-साथ चलते हैं। फिर भी मनुष्य में कुछ वृत्तियों का निर्माण होता है। दूसरा व्यक्ति मुझसे बड़ा न हो, यह एक सामान्य मनोवृत्ति मिलती है। मुझसे कोई छोटा रहे, इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। मुझसे ज्यादा विशेषता दूसरे में न हो, इस चेतना का निर्माण व्यापक स्तर पर मिलता है। जब व्यक्ति को यह पता चलता है—अमुक व्यक्ति में विशेषता का उदय हो रहा है तब एक भावना जन्म लेती है और वह है—आक्रोश की भावना। उस आक्रोश में से कुछ फूटता है, वह है अवर्णवाद। यह कोई नई और सामयिक वृत्ति नहीं है, चिरन्तन वृत्ति है। इसे शाश्वत मनोवृत्ति भी कहा जा सकता है।

बोधि : अर्थ-मीमांसा

भगवान् महावीर ने इसी मनोवृत्ति को लक्ष्य कर एक सूत्र का प्रतिपादन किया—कुछ व्यक्ति जानबूझ कर अपने लिए बोधि को दुर्लभ बना लेते हैं। बोधि की दुर्लभता आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ही हानिकार है। बोधि कोरा ज्ञान नहीं है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र—से सब बोधि हैं। बोधि का संबंध केवल ज्ञान से ही नहीं है, दृष्टि और आचरण से भी है।

बौद्ध साहित्य में बोधि का अर्थ है—क्षय और अनुत्पाद का ज्ञान होना। मेरे कर्म मल क्षीण हो चुके हैं, इस बात का ज्ञान होना। उनका अब उत्पाद नहीं होगा, इस बात का ज्ञान होना।

बोधि है विवेक

जैन दर्शन की दृष्टि से हम विचार करें। यह एक ऐसी समझ है, संबोधि है, जो प्रत्येक स्थान पर हमारा साथ देती है। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र—इन सब में हमारा सहयोग करती है और इन सबको सम्यक् बनाए रखने में योग देती है। ऐसी समझ का होना विशिष्ट बात है। बहुत लोग पढ़ने-लिखने के बाद भी मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं, क्योंकि उनमें बोधि नहीं होती।

बोधि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की संचालिका या नियामिका शक्ति है। कुछ व्यक्ति अपने आचरण के द्वारा बोधि को दुर्लभ बना लेते हैं इसीलिए आगम में बार-बार कहा गया—**बोही जत्थ सुदुल्लहा**—उनके लिए बोधि दुर्लभ है। बोधि का अर्थ है—एक विशेष प्रकार का विवेक। ऐसी विवेक-शक्ति, जो सब जगह अपनी रोशनी प्रदीप्त करती है।

दुर्लभ क्यों होती है बोधि ?

प्रश्न होता है—बोधि दुर्लभ क्यों होती है ? इसका एक कारण बतलाया गया—जिस व्यक्ति में अवर्णवाद की मनोवृत्ति होती है, उसे बोधि दुर्लभ हो जाती है। जो वर्ण नहीं देखता, अवर्ण देखता है, उसे अवर्ण देखने की आदत पड़ जाती है।

स्थानांग सूत्र में बोधि-दुर्लभता के पांच हेतु बतलाए गए हैं :—

१. अहंत् का अवर्णवाद।
२. आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद।
३. अहंत् प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद।
४. चतुर्विध संघ का अवर्णवाद।
५. तप और ब्रह्मचर्य के विपाक से दिव्य गति प्राप्त देवों का अवर्णवाद।

अहंत् का अवर्णवाद

यह विचित्र बात है—जिसमें कोई कमी नहीं दिखाई देती, व्यक्ति उसका भी अवर्णवाद करता है। अहंत् वह व्यक्तित्व है, जिसमें कोई दोष या कमी नहीं है। व्यक्ति उसका भी अवर्ण बोलता है। हम इस भ्रांति में न रहें—अवर्ण उसी का बोला जाता है, जिसमें कोई कमी या दोष होता है। कभी-कभी सर्वथा निर्दोष का भी अवर्ण बोला जाता है और कभी-कभी दोषी व्यक्ति का भी अवर्ण नहीं बोला जाता। अवर्ण बोलना निर्भर है मनोवृत्ति पर। वह निर्भर है अपने लगाव और अलगाव पर। जहां लगाव है वहां यह नहीं दिखाई देता—कोई कमी या अल्पता है। जिस व्यक्ति से लगाव नहीं है, अलगाव है, उसमें कितनी ही विशेषता क्यों न हो, व्यक्ति उसका अवर्णवाद करता है।

आरोपण की वृत्ति

शास्त्रकार ने कहा—अहंत् का अवर्ण बोलने वाला बोधि को दुर्लभ करता है। व्यक्ति अहंत् का क्या अवर्ण बोलेगा ? क्या अहंत् का अवर्ण बोला जा सकता है ? किसी का भी अवर्ण बोला जा सकता है। अवर्ण बोलने वाले के सामने दोष का होना जरूरी नहीं है। जो रुचि से मेल नहीं खाता, वह

अवर्ण का विषय बन जाता है। हम उदाहरण लें महावीर का। महावीर अर्हन्त थे। उनका भी अवर्णवाद किया गया। चरवाहा आया महावीर के पास। महावीर ध्यान में खड़े हैं। चरवाहा कहकर चला गया—देखो! ध्यान रखना, कहीं मेरे बैल इधर-उधर न चले जाएं। महावीर अपनी ध्यान-मुद्रा में थे। बैल इधर-उधर हो गए। चरवाहा वापस आया। बैल वहाँ नहीं थे। उसने महावीर को कोसा—लगता है, तुम्हारी नीयत खराब हो गई है, बैल चुराना चाहते हो? चरवाहे ने महावीर पर आरोपण कर दिया।

आरोपण की दुनिया

यदि आरोपण नहीं होता, तो हमारी दुनिया बहुत साफ-सुथरी होती। आरोपण की वृत्ति ने दुनिया को मैला बना दिया। कोई यथार्थ और सच्चाई तक नहीं पहुँचता, वस्तुस्थिति को नहीं जानता। अपने मन में गहराए सन्देह के कारण दूसरों पर आरोपण कर देता है। महावीर पर बैलों की चोरी का आरोपण कर दिया गया। इस दुनिया में न जाने कितनी बातें होती हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो अपने आपको भोला मानता है। बहुत भोला व्यक्ति भी अपने आपको सबमे होशियार मानता है और दूसरों को भोला मानता है। यह एक विपर्यय है—कमजोर आदमी स्वयं को बहुत शक्तिशाली मानता है और दूसरों को कमजोर मानता है। जहाँ पर यह आरोप और अपवाद की चेतना है, जो है, उसे नहीं मानने की मनोवृत्ति है वहाँ यह सब चलता है। आरोप और प्रतिवाद की दुनिया में आरोप और अपवाद ही चलता है इसीलिए हम प्रत्येक बात को आरोपण करके ही देखते हैं। हमारी दृष्टि ऐसी शुद्ध नहीं है कि हम किसी वस्तु को शुद्ध दृष्टि से भी देख सकें। हम पहले आरोपण करते हैं, फिर देखते हैं। यदि आरोप रहित दर्शन हो जाए, तो प्रेक्षा की जरूरत ही क्या रहे? जहाँ कोरा दर्शन है, आरोपण नहीं है, उसका ही नाम है प्रेक्षा। जहाँ सब्जेक्टिव और ऑब्जेक्टिव का भेद समाप्त हो जाए, वहाँ वस्तु का शुद्ध-दर्शन होता है।

मिलावट है ज्ञान में

समस्या यह है—ऐसा आरोपणविहीन ज्ञान नहीं है। कारण यही है, हमारा ज्ञान बहुत मिश्रित होता है। उसमें बहुत मिलावट होती है। दर्शन में मिलावट नहीं होती। बौद्ध दर्शन में माना गया—निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है और वही प्रमाण है। विकल्प को प्रमाण नहीं माना गया। जहाँ भी ज्ञान हुआ वहाँ कई बातें मिल जाएंगी। हम केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से काम नहीं लेंगे। इसमें मोहनीय कर्म की मिलावट होगी। जब मोहनीय कर्म मिलेगा, तब कितना राग-द्वेष और पक्षपात जुड़

जाएगा। आज छोटे-छोटे व्यक्ति अपने आपको बहुत मानने लग गए हैं, अपनी होशियारी में मोह का मिश्रण करने लग गए हैं। यह स्वाभाविक है, क्योंकि शुद्ध-ज्ञान का प्रयोग करना बड़ी तपस्या के बाद आता है। बहुत साधना के बाद उपलब्ध होता है केवल ज्ञान। सामान्यतः जैसे ही ज्ञान शुरू होता है, उसमें राग-द्वेष की धारा मिल जाती है और उसी में ईर्ष्या, क्लेश आदि की छोटी-छोटी नलियां मिल जाती हैं। जो जैसा है, उसे वैसा जानना हमारे भाग्य में कहां लिखा है? हम उसमें बहुत गंदगी मिला देते हैं।

यथार्थ सूत्र

यह सूत्र कितना यथार्थ है—जो अहंत् या वीतराग का अवर्णवाद बोलता है, वह बोधि को दुर्लभ बना लेता है। गोशालक ने आर्द्रककुमार से महावीर के बारे में बहुत कुछ कहा। गोशालक ने कहा—आर्द्रककुमार! तुम महावीर के पास जा रहे हो? क्या तुम नहीं जानते कि महावीर जैसा ढोंगी आदमी कोई नहीं है। महावीर पाखंडी हैं। जो महावीर अकेले रहते थे, लंबी-लंबी तपस्याएं करते थे, उन्होंने अब संघ बना लिया है। कहां रहे वे महावीर? गोशालक ने महावीर की वीतरागता पर स्पष्ट आक्षेप किए। हम सचार्ई कहां ढूंढे? एक वीतराग के बारे में भी ऐसा कहा जा सकता है। अवीतराग के बारे में कुछ कहा जाए तो आश्चर्य क्यों होना चाहिए? इस प्रकार की चेतना और मनोवृत्ति को देखते हैं, तो दुनिया बड़ी विचित्र लगती है।

धर्म का अवर्णवाद

व्यक्ति अहंत् का ही नहीं, अहंत् प्रज्ञप्त धर्म का भी अवर्णवाद बोलता है। कैसा धर्म चलाया है? कितना नीरस और रूखा है! कोई सरसता नहीं है। कष्ट ही कष्ट भेलना होता है। कितना अव्यावहारिक है धर्म! क्या ऐसे शरीर चलेगा? भोजन पर भी नियंत्रण, कपड़े पर भी नियंत्रण। यह कैसा धर्म है? यह धर्म का अवर्णवाद है। ऐसी भावना जागती है कि व्यक्ति विशेषता में भी कमी खोज लेता है। यह दृष्टिकोण और चेतना का अन्तर है।

आचार्य, गण और देव

तीसरा विकल्प है—आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद। जब व्यक्ति अहंत् को भी नहीं बख्शता, तब आचार्य को कैसे बख्शेगा? लोग भिक्षु स्वामी का नाम जपते हैं। स्वार्थ नहीं सधता है तो उन्हें भी कोसने लग जाते हैं। यह आरोपण की जो हवा चलती है, उसका विवेचन या परीक्षण करना बहुत कठिन होता है। व्यक्ति आचार्य या उपाध्याय की ही नहीं, चतुर्विध संघ की भी आलोचना कर देता है। यह अवर्णवाद का चौथा विषय है।

पांचवां विकल्प है—तप और ब्रह्मचर्य की साधना से जो दिव्यगति प्राप्त करते हैं, उनकी आलोचना भी करता है। व्यक्ति कहता है—देवता नहीं हैं, क्योंकि वे कभी उपलब्ध नहीं होते। यदि वे हैं, तो भी कामासक्त होने के कारण उनमें कोई विशेषता नहीं है।

उन्माद का हेतु

सूत्रकार ने ये पांच निदर्शन प्रस्तुत किए हैं, जिनका अवर्णवाद बोला जाता है। इसका विस्तार करें तो बहुत लम्बी सूची हो जाती है। इसका कारण है—मनुष्य में अवर्ण बोलने की वृत्ति होती है। स्थानांग सूत्रकार ने अवर्णवाद का पहला परिणाम बतलाया है बोधि-दुर्लभता। इसका दूसरा परिणाम है उन्माद। प्रश्न आया—पागल कौन बनता है? उसके जो छह कारण बतलाए गए हैं, उनमें चार बोधि-दुर्लभता के कारण हैं।^१

१. अर्हत् का अवर्णवाद।

२. अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद।

३. चातुर्वर्ण धर्मसंघ का अवर्णवाद।

४. आचार्य या उपाध्याय का अवर्णवाद।

५. यक्षावेश।

६. मोहनीय कर्म का उदय।

उन्माद के ये छह कारण हैं। जिसके दिमाग में यह अवर्ण की तेज मट्टी जलती है, उसका दिमाग ठण्डा कैसे रहेगा? जिसका दिमाग गरमा जाए, वह पागल क्यों नहीं होगा?

दुर्लभ है प्रमोदभाव

हम इस सूत्र पर गहराई से चिन्तन करें। सज्जन आदमी का यह लक्षण माना जाता है—वह दूसरे की बुरी बात करता नहीं है, मन में भी नहीं लाता है। यदि मन में कोई बात आ जाती है तो वाणी के द्वारा प्रकट नहीं करता। शायद ही ऐसा कोई महाकाव्य मिले, जिसमें सज्जन और दुर्जन की चर्चा न मिले। साधु की भूमिका सज्जन से भी ऊंची है। उसके मुंह से ऐसा कोई शब्द निकले या लिखा जाए, यह सोचा ही नहीं जा सकता। साधुत्व की भूमिका प्रमोद भावना की भूमिका है। विशेषता को उन्नयन देना उसका दायित्व है, किंतु समस्या यह मनोवृत्ति है—

प्रमोदो दुर्लभो लोके, ईर्ष्यास्ति सुलभा नृणाम् ।

गुणे संभागिता नेष्टा, दोषे संभागिता प्रिया ॥

प्रमोद होना दुर्लभ है। ईर्ष्या सुलभ है, इसीलिए गुणों में सहमागी

होना वांछित नहीं है । दोष में संभागी होना प्रिय लगता है ।

यह जो मनोवृत्ति है, मानवीय दुर्बलता है, उसे मिटाए बिना जीवन में सज्जनता, साधुता या महानता का उदय नहीं हो सकेगा । हम प्रमोद-भाव को समझें, उसका विकास करें । इससे अपना विकास होगा, धर्मसंघ का विकास होगा । यह विकास का सूत्र है, बोधि और संबोधि का सूत्र है ।

सूत्रों का वाचन और शिक्षण

संगठन, गण या संघ का एक निश्चित आधार होता है। जो निरालंब या आधारविहीन चलता है, वह ज्यादा चल नहीं पाता, बीच में गिर जाता है। प्रश्न है—धर्मसंघ का आधार क्या है? वह है श्रुत। उसका एक दर्शन है, उसकी अपनी परम्परा है और उसी के आधार पर संघ चलता है। श्रुत की परम्परा न हो तो संघ का चलना और न चलना कोई अर्थ नहीं रखता। धर्मसंघ में श्रुत का स्थान बहुत बड़ा हो जाता है। आचार्य का सबसे बड़ा काम है—श्रुत की परम्परा को अविच्छिन्न रखना, श्रुत पर गहन चिंतन करना। आचार्यवर ने आगम संपादन का दायित्व उठाया। यह आचार्य पद के अनुरूप कार्य है। भगवती जैसे महत्त्वपूर्ण सूत्रों की आज जितनी टीका होनी चाहिए, जितना गहन उसका अर्थ है, दार्शनिक स्तर पर उसकी व्याख्या होनी चाहिए, यह श्रुत की परम्परा के पुनरुज्जीवन का उपक्रम है।

क्यों पढ़ाएं ?

संघ की परम्परा को जीवित रखने के लिए श्रुत की परम्परा को जीवित और प्राणवान् रखना जरूरी है। यह हमारा आधारभूत तत्त्व है। गुरु-परंपरा से पढ़ना और पढ़ाना—दोनों बराबर चलना चाहिए। प्रश्न आया—कोई क्यों पढ़ाए ? कहा गया—पढ़ाने के मुख्य पांच प्रयोजन हैं—

१. संग्रह के लिए।
२. उपग्रह के लिए।
३. निर्जरा के लिए।
४. श्रुत पर्यवज्ञात होगा इसलिए।
५. श्रुत-परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए।

संग्रह : उपग्रह

संग्रह और उपग्रह—ये दोनों संघ से जुड़ी हुई प्रवृत्तियां हैं। शिष्यों का संग्रह करना और श्रुत सम्पन्न बनाना। शिष्यों को पढ़ाना चाहिए, जिससे शिष्यों में उपग्रह की क्षमता आ जाए, उपकार करने की क्षमता आ जाए, प्रयोजन को सिद्ध करने की क्षमता आ जाए। संघ में आहार की जरूरत

होती है। पानी को दुर्लभ द्रव्य माना गया है। औषध, कपड़े और स्थान की जरूरत होती है। इन अनेक अपेक्षाओं को पूरा कौन करे ? जिसमें उपग्रह की क्षमता नहीं है, वह इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। इन आवश्यकताओं को पूरा करने वाले को 'वृषभ' का दर्जा दिया गया। सब साधुओं में यह क्षमता समान नहीं होती।

निर्जंरा

तीसरा प्रयोजन है—निर्जंरा। यह व्यक्तिगत दृष्टि से भी मूल्यवान् है। वह सोचे—मैं पढ़ाऊंगा तो निर्जंरा होगी, मुझे लाभ होगा और मेरी आत्मशुद्धि होगी।

श्रुत का पर्यवज्ञान

चौथा प्रयोजन है—मेरा श्रुत पर्यवज्ञात होगा, निर्मल और परिपक्व बनेगा। दूसरों को पढ़ाने पर ही पता चलेगा—मुझे ठीक आता है या नहीं ? दूसरों को पढ़ाए बिना इसका पता नहीं चल सकता।

श्रुत की अव्यवच्छिन्नि

पांचवां प्रयोजन है—श्रुत की अव्यवच्छिन्नि। इससे श्रुत का विच्छेद नहीं होगा। प्राचीन परंपरा में श्रुत कंठस्थ परंपरा से चलता था। आश्चर्य की बात है—इतनी बड़ी ज्ञान राशि को कंठस्थ के आधार पर कैसे जीवित रखा गया। खोया कम नहीं है, पर सुरक्षित भी बहुत है।

कंठस्थ की परंपरा

भगवती जैसा विशाल ग्रंथ, जिसका ग्रन्थमान सोलह हजार पद्य माना जाता है, उसे कंठस्थ परंपरा से कैसे जीवित रखा गया ? यह आश्चर्य की बात है। वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों परंपराओं में ही कंठस्थ रखने की परंपरा रही। कहा जाता है—मुनि यशोविजयजी ने शार्दूल विक्रीडित छंद में निबद्ध सात सौ श्लोक एक दिन में कंठस्थ कर लिए। आज भी वैदिकों में कुछ वेदपाठी ऐसे हैं, जिन्हें वेद कंठस्थ हैं। बौद्धों में भी कुछ भिक्षु ऐसे हैं, जिन्हें आज भी तीनों पिटक याद हैं। जैन धर्म में भी कंठस्थ करने की परंपरा रही है। चौदह पूर्व का ज्ञान कंठस्थ था। इस संदर्भ में बतलाया गया—अगर मैं दूसरों को नहीं पढ़ाऊंगा तो श्रुत की परंपरा विच्छिन्न हो जाएगी। इसी कारण मुनि दूसरों को पढ़ाता है।

परंपरा लुप्त न हो जाए

आचार्य भद्रबाहु ने महाप्राण ध्यान की साधना शुरू की। संघ ने सोचा—भद्रबाहु नहीं रहेंगे तो ज्ञानराशि भी विच्छिन्न हो जाएगी। इसकी चिन्ता रहती है आचार्य को। संघ का भी यह दायित्व होता है—हमारे

ज्ञान की कोई परम्परा विच्छिन्न न हो जाए ।

अविच्छिन्ना चिरं भूयात्, श्रुतज्ञानपरंपरा ।

आचार्यस्येति दायित्वं, तथा चिन्ता तथा कृतिः ॥

योगक्षेम वर्ष में इस चिन्ता को दुहराया गया—हमारे ज्ञान की परंपरा लुप्त न हो जाए । इसे निरन्तर गतिशील रखना है । ऐसे साधु-साधिवर्यों को तैयार करना है, जो विशेषज्ञ बनें । इस बात की चिन्ता बराबर रहती है—विच्छेद न हो परंपरा का, वह आगे से आगे बढ़ती जाए । यह पांचवां कारण बनता है पढ़ाने का ।

इन पांच कारणों में दो कारण व्यक्तिगत हैं—निर्जरा होगी और श्रुत ज्ञान होगा । तीन कारण संघीय है, संघ की परम्परा को बराबर बनाए रखने के लिए है ।

क्यों पढ़ें ?

एक प्रश्न है—शिष्यों को क्यों पढ़ना चाहिए ? इसके भी पांच कारण है ।

पहला प्रयोजन है—ज्ञान बढ़ाने के लिए ।

दूसरा कारण है—दर्शन की विशुद्धि के लिए । बिना पढ़े दर्शन की विशुद्धि कैसे हो सकती है ?

तीसरा कारण है चारित्र । ज्ञान से चारित्र के नये-नये पर्यायों का विशेष विकास होता है ।

चौथा प्रयोजन है—विग्रह और अभिनिवेश के विमोचन के लिए । व्यक्ति में अपना अभिनिवेश होता है, धारणाओं की पकड़ होती है ।

महागद है अभिनिवेश

चरक में एक रोग का उल्लेख मिलता है—अतत्वाभिनिवेश । इसको महागद माना गया है । यह शायद हर व्यक्ति में होता है । यह विग्रह—अभिनिवेश बहुत व्यापक है । जीवन के हर क्षेत्र में—ज्ञान, आचार और धारणा के क्षेत्र में इस अभिनिवेश का साम्राज्य चलता है । बहुत कठिन है इस अभिनिवेश से मुक्त होना । मिथ्यात्व का अभिनिवेश है, दृष्टिकोण का अभिनिवेश है । प्रश्न आया—ज्ञान क्यों करना चाहिए ? इसलिए कि यह अभिनिवेश मिट जाए । जीवन में सहज सरलता, न्याय और तटस्थता का भाव विकसित हो इसलिए पढ़ना जरूरी है ।

कैसे मिटे अभिनिवेश

प्रश्न है—अभिनिवेश कैसे मिटे ? जैसे-जैसे श्रुत की अभिनव धारणाएं

सामने आती हैं, अभिनिवेश कम होता चला जाता है, मिथ्या धारणाएं बदलती चली जाती हैं। जब तक व्यक्ति श्रुत को नहीं जानता तब तक ऐसा होता नहीं है। जीवन में ज्ञान का आग्रह होता है, दृष्टिकोण और आचरण का भी आग्रह होता है। यह एक ऐसा उन्माद है जो आचरण में भी रहता है। यह महारोग है। भंयकर बीमारी है अभिनिवेश की। चरक का श्लोक है—

विषयाभिनिवेशो यो, नित्यानित्ये हित्वाहिते ।

ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्ह पश्यति ॥

नित्य और अनित्य का भान समाप्त हो जाता है, हित और अहित की चेतना समाप्त हो जाती है, इसका नाम है बुद्धि का भ्रंस। इस अभिनिवेश को मिटाने के लिए पढ़ना चाहिए।

पांचवां कारण है—मैं पढ़ूंगा, यथार्थ भावों को जानूंगा, सचाइयों को जानूंगा। सचाई को जानने से बड़ा कोई आनन्द नहीं होता।

प्रयोग : योगक्षेम वर्ष में

ये पांच कारण बतलाए गए हैं पढ़ने के।

पांच कारण पढ़ने के हैं और पांच कारण पढ़ाने के हैं। इन दसों कारणों को हम अपने ऊपर घटित करें। क्या ये दस कारण हमारे जीवन में घटित हुए हैं? आचार्यवर ने तीन संघीय कारण पूरी तरह निभाए हैं। इनके साथ-साथ निर्जरा भी हुई है। योगक्षेम वर्ष में ये सभी कारण घटित हुए हैं। इस वर्ष में सीखने वालों ने बहुत सीखा है और बहुत लिखा भी है। विग्रह—अभिनिवेश को कम करने के लिए भी पढ़ा है। जो नहीं सीखा गया, वह योगक्षेम वर्ष में सीखने को मिला, नई-नई बातें सीखी गईं। कहना चाहिए—सूत्रकार ने यह सूत्र कब लिखा—पांच कारणों से पढ़ाना और पांच कारणों से पढ़ना किन्तु उसका प्रयोग हो गया योगक्षेम वर्ष में। उसमें इन सब बातों का प्रयोग हुआ है। दुनिया ऐसी है कि दो हजार वर्ष का विचार दो हजार वर्ष बाद साकार बन जाता है। कोई कभी सोचता है और उसे आकार कभी मिल जाता है।

हम इन दो बातों पर विशेष ध्यान दें—व्युद्ग्रह विमोचन और यथार्थ भावों को जानने के लिए पढ़ें।

श्रुतेन जायते पुंसां, व्युद्ग्रहस्य विमोचनम् ।

ज्ञानं यथार्थभावानां, तेनाध्ययनमाश्रितम् ॥

विग्रह विमोचन का सूत्र है श्रुत और यथार्थ बोध का सूत्र है श्रुत। इस सूत्र को हम पकड़ लें तो सूत्र की सार्थक व्याख्या लिख पाएंगे।

आचार्य पद की अर्हता

प्रत्यक व्याक्त की अर्हता होती है। किसी भी काम पर कोई नियुक्त हो, छोटे से छोटा काम हो और बड़े-से-बड़ा काम, अर्हता का पहले निर्धारण किया जाता है। लौकिक पक्ष में कोई भी अधिकार पर आता है, लोक-सेवा में आता है, तो लोक-सेवा आयोग उसकी अर्हता की जांच करता है। उसके द्वारा जो मान्यता प्राप्त होता है, उसे सेवा का अवसर मिलता है। शिक्षा और न्याय के क्षेत्र में सर्वत्र अर्हता की बात जुड़ी हुई है। धर्म के क्षेत्र में भी अर्हता को मान्यता मिली। किसी भी सेवा के पद पर कोई आए, उसकी अर्हता देखी जाए। व्यवहार सूत्र में अर्हता के मानदण्ड बतलाए गए हैं। उपाध्याय कौन बन सकता है? आचार्य और गणावच्छेदक कौन बन सकता है? इन सबकी अर्हता का उल्लेख किया गया है। स्थानांग सूत्र में भी इस विषय पर अनेक प्रसंगों में चिन्तन हुआ है।

अर्हता : मापदण्ड

एक सन्दर्भ है आचार्य की अर्हता का। गण को कौन धारण कर सकता है? हर व्यक्ति गण को धारण नहीं कर सकता। गण को धारण करने वाले की अर्हता को कम-से-कम छह कोणों से देखा गया है। जिस आचार्य में ये छह अर्हताएं होती हैं, वही गण को धारण कर सकता है—^१

१. श्रद्धाशील
२. सत्यवादी
३. मेधावी
४. बहुश्रुत
५. शक्तिमान्
६. कलहरहित

श्रद्धावान्

अर्हता का पहला बिन्दु है—श्रद्धावान् होना। जिसमें श्रद्धा—आस्था नहीं है, वह गण को कैसे धारणा करेगा? आचार के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए, शास्त्र और मर्यादा के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। जो इन सबके प्रति

श्रद्धालु है, वह गण को धारण कर सकता है। आचार्यश्री ने एक प्रसंग में कहा—एक व्यक्ति के बारे में लोग बहुत कुछ सोचते थे। क्या होगा? एक दिन उसने आचार्यवर के सामने आगम के प्रति अनास्था की बात की। आचार्यवर ने कहा—उसके बाद मेरे मन में एक धारणा बन गई—जिसमें आगमों के प्रति भी आस्था नहीं है, क्या वह आगे बढ़ने योग्य हो सकता है? पहले श्रद्धा या आचार?

अर्हता का सबसे पहला मानदंड है आस्थावान् होना। यदि वह आस्थाहीन है, तो पता नहीं कब नैया को बीच में ही डुबो दे। जो स्वयं सदेहशील है, वह नौका डूबेगी ही। निश्छिद्र नौका होनी चाहिए। जिसमें कोई छेद नहीं होता, वह नौका तैरती है, दूसरों को भी पार ले जाती है। आचार्यपद की अर्हता का एक मानदंड है आस्था। अपने लक्ष्य के प्रति, अपने कर्त्तव्य और अपने आधार के प्रति निश्छिद्रता होनी चाहिए। श्रद्धा पहली कसौटी है। प्रश्न आया—आचार पहले या श्रद्धा पहले? कहा गया—श्रद्धा पहले चाहिए। उसके बिना आचार आएगा ही नहीं। श्रद्धा के बिना जीवन में न मर्यादा आएगी, न आचार आएगा और न शास्त्र आएगा।

सत्यवादी

दूसरी कसौटी है सत्य होना, यथार्थभाषी होना। यहां सत्य का जो अर्थ है, वह यह है—आचार्य जो संकल्प करता है, उसका निर्वाह करने वाला होता है। यह नहीं होता—आज संकल्प किया और दो दिन बाद टूट गया। जो संकल्प का कमजोर होता है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता। प्रतिज्ञा को निर्वाहित करने वाला होना चाहिए। आचार्य जो संकल्प करता है, उसका अंत तक निर्वाह करता है। वह प्रतिज्ञा के निर्वाह में समर्थ होता है। हम तेरापंथ की परम्परा को देखें। आचार्यों ने जो संकल्प किया, उसे निभाया है। व्यक्ति को निभाया है, प्रकृति को निभाया है। उन्होंने सबको निभाया है। यह दूसरी बड़ी अर्हता है—प्रतिज्ञा के निर्वाह में समर्थ होना, कमजोर न होना।

मेधावी

तीसरी कसौटी है मेधावी होना। धारणा में जो बुद्धि क्षम है, उसका नाम है मेधा। बुद्धि के आठ प्रकार हैं। उनमें मेधा भी एक प्रकार है। पहले अवग्रह होता है, उसके बाद ईहा, ईहा के बाद अवाय। अवाय है निर्णयात्मक स्थिति किन्तु अविच्युति नहीं है तो अवाय भी काम नहीं देता। एक ओर है स्मृति, दूसरी ओर है—अवाय। उसके बीच में है धारणा। बहुत लोग कहते हैं—हमारी स्मृति बहुत कमजोर है। यह बड़ा भ्रम होता है। स्मृति कमजोर नहीं होती। कमजोर होती है धारणाशक्ति। जिसकी धारणा-

शक्ति कमजोर है, उसमें स्मरण शक्ति कहां होगी ? स्मृति संस्कार से प्रबुद्ध होती है । संस्कार जागता है तब स्मृति होती है । आचार्य के लिए दोनों बातें बहुत जरूरी हैं । धारणा और स्मृति । अगर आचार्य की स्मृति और धारणा कमजोर है, तो सब गड़बड़ा जाता है । आचार्यों के सामने बहुत जरूरी प्रश्न है लोगों को याद रखने का । एक प्रकार से तेरापथ का आचार्य कम्प्यूटराइज्ड होता है । वे सारी बातें बड़ी विचित्रता के साथ स्मृति में रखते हैं । धारणा की प्रबलता का होना बहुत आवश्यक है । यह अर्हता है, कसौटी है—किस प्रकार आचार्य धारणा और स्मृति रखे । मेधा—धारणा की शक्ति प्राकृतिक रूप से प्राप्त होती है, किन्तु आचार्य के लिए बहुत अनिवार्य हो जाती है ।

मेधा के साथ प्रतिभा का भी बहुत सम्बन्ध है । मेधा का एक अर्थ है—धारणा । दूसरा अर्थ है—मर्यादाशील होना । तीसरा अर्थ है—प्रतिभा-संपन्न होना—जीनियस होना । जिस व्यक्ति में बुद्धि के साथ सृजनात्मक शक्ति होती है, वह जीनियस होता है ।

प्रतिभा का निदर्शन

आचार्य भारमलजी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में दो नाम लिखे—खेतसी तथा रायचंद । उस समय जयाचार्य अठारह वर्ष के थे । यह कैसे सम्भव था—एक छोटा साधु आचार्य के कार्य में हस्तक्षेप करे और प्रार्थना भी करे—महाराज ! आप इस पर पुनः विचार करें । इतना साहस कैसे हो सकता था ? पर जयाचार्य जीनियस थे, उनमें प्रतिभा और मेधा थी । उन्हें ऐसा लगा—यह कार्य संघ के हित में नहीं होगा । अगर ऐसा हुआ, यह परम्परा पड़ी तो भविष्य में विग्रह का हेतु बन सकता है, वर्तमान में भी विग्रह का कारण बन सकता है । जयाचार्य ने प्रार्थना की—महाराज ! आपने जो किया है, वह आपकी मर्जी है । आप इस पर विचार करें । आप एक नाम रख दें तो कैसा रहे ? आप ऐसा कर दें—खेतसीजी स्वामी और उसके बाद रायचंदजी स्वामी ।

जयाचार्य की बात आचार्यश्री को जच गई । उन्होंने उत्तराधिकार पत्र में एक नाम हटा दिया ।

यह प्रतिभा का काम था । प्रतिभा से परख लिया गया—व्यक्ति में कितनी प्रतिभा है और वह कितना मूल्यांकन कर सकता है ? यह सूझ-बूझ का होना, आकस्मिक निर्णय लेना, निर्णायक चेतना का जाग जाना, यह सारा सम्भव बनता है मेधा से । जिसमें यह प्रतिभा जाग जाती है, उसमें ये सारी बातें आ जाती हैं ।

सूझबूझ

हम पूज्य कालूगणी के जीवन को देखें । उन्होंने कैसे सारे निर्णय

किए—अब साधुओं को पढ़ाना है, साध्वियों को पढ़ाना है। नया व्याकरण बनाना, है, काव्यानुशासन पढ़ना है। ये सारा चयन कैसे किया? सूक्त-बृह और सृजनात्मक चेतना से उन्होंने सारी बातें सोची और धर्मसंघ में विकास के नये आयाम खोल दिए। आचार्यश्री ने अपने जीवन में कितने काम किए हैं। आगम का काम शुरू क्यों हुआ? इसका हेतु है जीनियस होना। प्रतिभा की एक ऐसी स्फुरण है, अकस्मात् कोई ऐसी बात उतरती है कि पता नहीं चलता और एक काम हो जाता है।

न्यूटन ने कहा—एक वैज्ञानिक के लिए तार्किक होना जरूरी है। उनसे पूछा गया—यह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत किस तर्क से उपजा? न्यूटन ने कहा—किसी भी तर्क से नहीं, मैं भी नहीं समझ पा रहा हूँ कि यह कैसे उपजा? मैंने गिरते आदमी को देखा। वह गिर भी रहा है और सम्भल भी रहा है। यह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत मिल गया, समस्या सुलभ गई। यह है मेधा।

ये जो स्फुरणाएं होती हैं, सूझबूझ से उपजती हैं। सूझबूझ के बिना तात्कालिक निर्णय नहीं किया जा सकता।

यह है मेधा

सं० १९६४ की घटना है। बीकानेर का चतुर्मास सम्पन्न हुआ। विदाई जुलूम की तैयारी हुई। एक ओर आचार्य प्रवर जुलूस के साथ पधार रहे थे, दूसरी ओर अन्य सम्प्रदाय के आचार्य का जुलूस भी आ रहा था। दोनों ओर हजारों आदमी साथ में थे। ऐसा बिन्दु आ गया कि परस्पर में टकरा जाएं। कौन किसको रास्ता दे? दो मिनट में यदि निर्णय नहीं किया जाता तो न जाने क्या हो जाता? आचार्यश्री ने कहा—पीछे हट जाओ। उस समय ईश्वरचन्दजी चौपड़ा आदि न जाने कितने-कितने लोगों का खून खौल गया था। आचार्यश्री मुड़ गए। संघर्ष की सम्भावित स्थिति टल गई। इस बात का तत्कालीन नरेश गंगासिंहजी को पता लगा। उन्होंने कहा—तुलसी-गणिकी महाराज अवस्था में तो छोटे हैं पर उन्होंने काम ऐसा किया है कि सत्तर वर्ष का आदमी भी नहीं कर सकता। उन्होंने मेरे राज्य में धर्म के नाम पर होने वाले खून खराबे को, जो सम्भावित था, टाल दिया।

यह है मेधा, आचार्य की तीसरी अहंता।

बहुश्रुत

आचार्य की चौथी कसौटी है बहुश्रुत होना। जो बहुश्रुत होता है, संघ का विस्तार करता है, वह आचार्य बनने के योग्य होता है। स्वयं बहुश्रुत न होगा, तो क्या करेगा? आचार्य प्रवर बहुश्रुत हैं। कहा जा सकता है—तेरापंथ का २२५ वर्ष का समय और अगला भविष्य—दोनों

के बीच का आचार्यवर जैसा कोई सक्षम सेतु नहीं है। भगवती की जोड़ की सारी रागें जानने वाला एक भी साधु-साध्वी नहीं है, लेकिन आचार्यवर सब रागों के ज्ञाता हैं। अनेक ऐसी बातें हैं, जिन्हें केवल आचार्यवर ही जानते हैं। हर विषय में जिसके श्रुत का अधिकार है, वह आचार्य की अर्हता को उपलब्ध होता है।

शक्तिमान्

पांचवीं कसौटी है शक्तिमान् होना। और सब बातें हैं पर शक्तिमान् नहीं है तो सारी बातें फ़ीकी पड़ जाती हैं। एक बात है—शरीर से बलवान् होना। दूसरी बात है—मन्त्र-सम्पन्न होना। उत्तरप्रदेश की घटना है। भयंकर गर्मी पड़ रही थी। मुनिश्री जसकरणजी और मुनिश्री मिलापचंदजी—दोनों लू से संतप्त हो गए। हालत गंभीर हो गई। आचार्यश्री ने अपना ओघा मंगाया, उसके दो तार तोड़े। वे दोनों तार सन्तों को देते हुए आचार्यश्री ने कहा—ये तार दोनों को बांध दो। तार बांधते ही थोड़ी देर में सब कुछ सामान्य हो गया। ऐसे अनेक प्रसंग समय-समय पर देखे हैं। मन्त्र-सम्पन्न होना भी आचार्य के लिए जरूरी है। तीसरी बात है—शिष्य परिवार से युक्त होना। ये तीन शक्ति के मानदण्ड हैं—परिवारशक्ति सम्पन्न, मन्त्रशक्ति सम्पन्न और शरीरशक्ति सम्पन्न।

कलहमुक्त

आचार्य की छठी कसौटी है—कलहमुक्त होना। जिसकी प्रकृति में कलह की आदत होती है, वह आचार्य पद के योग्य नहीं होता। जो स्वपक्ष में भी कलह करता है और परपक्ष में भी कलह करता है, वह अगर आचार्य बन जाता है तो भयंकर मुसीबत खड़ी हो जाती है। आचार्य इतना प्रशांत होना चाहिए कि न स्वपक्ष में कलह करे और न परपक्ष में कलह करे। आचार्य के सामने परपक्ष का भी बहुत प्रसंग आता है। अनेक मत और मान्यताओं के लोग आते हैं। उन्हें विनोदपूर्वक सुन लेना और उत्तर भी दे देना—यह बहुत बड़ी कला और साधना है।

कितनी बड़ी बात

एक पादरी बोला—आचार्यश्री ! आज मैंने आपका प्रवचन सुना। आपने बहुत अच्छी बातें कही, किन्तु महाप्रभु यीशु ने एक विशिष्ट बात कही है। क्या आपने बाइबिल पढ़ा है ?

आचार्यश्री ने कहा—थोड़ा देखा है।

यीशु ने कहा है—'कोई तुम्हारे एक गाल पर चांटा मारे तो तुम दूसरा गाल उसके सामने कर दो। उसके साथ मित्रता का व्यवहार करो।

इतनी बड़ी बात किसी धर्म में मिलेगी नहीं ।’

आचार्यश्री ने हंसकर पादरी की बात सुनी । आचार्यश्री ने कहा—
क्या आप मेरी भी बात सुनना चाहेंगे ? महावीर ने इससे भी बड़ी बात
कही है—किसी को दुश्मन मानो ही मत । यह कितनी बड़ी बात है !

पादरी देखता रह गया ।

यह एक महान् सूत्र है अल्पाधिकरण्य का—कलह न हो । कलह का
छोटा-सा बीज भी भयंकर रूप ले लेता है ।

श्रद्धा, सत्यनिष्ठा, मेधा, बहुश्रुतता, शक्तिमत्ता, अल्पाधिकरण्य—
ये आचार्य की छह कसौटियां हैं । ये अर्हताएं प्रत्येक भादमी में होनी
चाहिए, वह चाहे आचार्य बनाया जाए या न बनाया जाए । एक अच्छा
जीवन जीने के लिए भी ये छह अर्हताएं जरूरी हैं । जो इन अर्हताओं से
पंपन्न होता है, वह सुखी एवं शान्त जीवन का मन्त्र पा लेता है ।

कलियुग के सात लक्षण

वेदान्त में ब्रह्म को कालातीत माना गया। नैययिक और वैशेषिक दर्शन ने ईश्वर को कालातीत माना। दो धारणाएं रही—कालातीत और कालप्रतिबद्ध। इस दुनिया में जितने द्रव्य हैं, सचेतन या अचेतन—सब काल से बंधे हुए हैं। जैसे काल की सूई घूम रही है वैसे मनुष्य उस चक्र में घूम रहा है, किन्तु कुछ सत्ताओं को कालातीत माना गया। योगीजन मानते हैं—समाधि की अवस्था में जो चला जाता है, वह कालातीत हो जाता है। कालातीत का अर्थ है—काल से अप्रभावित दशा।

काल का प्रभाव

प्रश्न है—काल से प्रभावित कौन नहीं होता? कहा जाता है—महादेव को भी साढ़े साती धाई। शनि ने कहा—भगवन्! मैं आप पर आ रहा हूं, आप सावधान रहना। महादेव ने कहा—तुम मेरा क्या बिगाड़ोगे? शनि चला गया। सात वर्ष बाद शनि ने कहा—भगवन्! मेरा समय पूरा हो रहा है। आप आनन्द से रहें।

‘मैं तो आनन्द से ही रहा।’

‘भगवन्! कैसा आनन्द? आपने क्या किया।’

‘मैं साढ़े सात वर्ष गुफा में ध्यान करता रहा। कहीं गया ही नहीं।’

‘आप साढ़े सात वर्ष कारागार में कैद हो गए और क्या हो सकता था?’

काल प्रभावित है काल से

यह काल का चक्र प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करता है। हम इतिहास को देखें। मुगल काल आया, मौर्य काल और गुप्त काल आया। काल ही काल बदलते जा रहे हैं। काल से प्रभावित हुए बिना कोई भी नहीं रह सका। लोग सोचते थे—ब्रिटिश की ऐसी सत्ता है, जिसके राज्य में सूरज अस्त नहीं होता। एक दिन ऐसा आया—सब कुछ समाप्त हो गया। यह काल का प्रभाव है। भगवान् महावीर ने कहा—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इनसे सभी प्रभावित होते हैं। काल को समझना जरूरी है। काल

स्वयं भी काल से प्रभावित होता है इसीलिए कभी काल सुषमा बन गया और कभी दुःषमा बन गया। कभी स्निग्ध बन गया और कभी रूक्ष बन गया। कोई भी व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक एक जैसे काल का अनुभव नहीं करता। कालचक्र बदलता रहता है। किसी भी परिवर्तन में इसका बड़ा हाथ रहता है।

कलियुग : सात लक्षण

ईश्वरवादी कहते हैं—व्यक्ति को जैसा होना होता है, ईश्वर उसे वैसी मति दे देता है। ईश्वर देता है या नहीं, पर काल जरूर देता है। सब प्रभावित हैं काल से। काल के प्रभाव को केन्द्र में रखकर सात बातें बतलाई गईं। दुःषमाकाल (कलियुग) के सात चिह्न हैं—

१. काल में वर्षा नहीं होती।
२. अकाल में वर्षा होती है।
३. साधु की पूजा नहीं होती।
४. असाधु की पूजा होती है।
५. गुरुजनों के प्रति मिथ्या व्यवहार होता है।
६. मन का दुःख होता है।
७. वचन संबंधी दुःख होता है।

संदर्भ : वर्षा

कलियुग के पहले दो लक्षण वर्षा के संदर्भ में हैं। जब वर्षा का समय आता है, तब वर्षा नहीं होती। जब वर्षा का समय नहीं होता है, तब वर्षा होती है। दुःषमाकाल के इन दोनों लक्षणों की समीक्षा करें तो मानना होगा—यह भी सापेक्ष बात है। यह पूरे विश्व पर लागू नहीं होती। वर्षा का सम्बन्ध है कृषि के साथ। कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहां अतिरिक्त वर्षा होती है। बम्बई, असम और चेरापूँजी में जो वर्षा होती है, उसकी राजस्थान में कल्पना नहीं की जा सकती। यह सार्वत्रिक विषय नहीं है किन्तु एक सचाई है काल की।

संदर्भ : पूजा

दुःषमा के दो चिह्न पूजा-प्रतिष्ठा से जुड़े हुए हैं। कलियुग में साधु की पूजा नहीं होती। असाधु की पूजा होती है, बुराई की पूजा होती है। इस तथ्य को घटित करना बहुत मुश्किल है। किसे अच्छा मानें? किसे बुरा मानें? आज एक बात स्पष्ट हो गई—आज कुछ भी जीतना है, पाना है तो एक शक्ति चाहिए। यह शक्ति किनसे मिली है? जो हिंसा, तोड़-फोड़ और उपद्रव करने में कुशल हैं, उनकी शक्ति चाहिए। कोरी सज्जनता के लिए कोई कुछ

करना चाहे तो शायद कर नहीं पाएगा। इस सारे संदर्भ में विचार करें तो यह सूत्र सार्थक प्रतीत होता है—साधु की पूजा नहीं होती, असाधु की पूजा होती है। साधु शायद उतनी तोड़फोड़ करना नहीं जानता, जितनी एक असाधु कर लेता है। यदि साधु जानता है तो भी वह कर नहीं पाता। इस समस्या का समाधान कैसे मिले? सब चाहते हैं—अच्छे लोग सामने आएँ, अच्छे व्यक्ति काम और पद का दायित्व संभालें पर वे कैसे आएँ? यह सूत्र बहुत यथार्थ है। दुःषमा काल का यह लक्षण है—भले और सज्जन आदमी को उतना स्थान मिलना मुश्किल है, जितना दूसरे कारण से मिल सकता है। यह वर्तमान का प्रश्न नहीं है, शाश्वत मनोदशा का प्रश्न है।

मिथ्या व्यवहार

दुःषमाकाल का पाँचवाँ चिह्न है—गुरुजनों के प्रति मिथ्या-व्यवहार, अविनयपूर्ण व्यवहार। यह बहुत व्यापक लक्षण है। हम विद्यालयों की स्थिति को देखें। आज अध्यापकों और प्रोफेसरो की पिटाई होती है। वे छात्रों से दबते हैं, भय खाते हैं। आज पिता में यह ताकत कम हो गई है कि वह बच्चे को डांट सके। बच्चा पिता को डांट पिला देता है। आज एक समस्या व्यक्तिगत कारण से उभर रही है। दो व्यक्तियों में कोई मनमुटाव होता है, उसे संसद, समाज और राजनीति पर लागू कर दिया जाता है। यह गुरुजनों के प्रति जो उद्‌डतापूर्ण मनोवृत्ति बनी है, वह दुःषमा का बहुत बड़ा लक्षण है। अन्यथा विनय भाव होना, कृतज्ञ होना, गुरुजनों के प्रति सरकार पूर्ण व्यवहार होना बहुत सामान्य बात है। आज कोई किसी पर भरोसा नहीं कर सकता। इस अविनय की बढ़त में काल का भी प्रभाव काम कर रहा है।

मानसिक दुःख

दुःषमा का छठा लक्षण है मानसिक दुःख। इसमें अव्याप्ति लक्षण है। आज सारे संसार में मानसिक तनाव की चर्चा है। दुनिया का सबसे बड़ा संताप बन रहा है मानसिक तनाव। इसमें काल भी कारण है। काल के साथ-साथ हमारा चिन्तन बदलता है। यह नहीं होता—आदमी के सामने कष्ट की स्थिति ही न आए पर एक ऐसा काल होता है, जिसमें कष्ट की स्थितियाँ टिक नहीं सकती, कष्ट की स्थिति तत्काल समाप्त हो जाती है। व्यक्ति के सामने कुछ परिस्थितियाँ आती हैं किन्तु वह उसे मन से निकाल देता है। उसका वेदन नहीं, रेचन कर देता है। उससे मानसिक तनाव और दुःख नहीं होता। आज कायोत्सर्ग से व्यक्ति शारीरिक शिथिलता पा लेता है पर मानसिक कायोत्सर्ग की बात उसे प्राप्त नहीं है। यदि मन में प्रतिशोध की बात न आए, संवेदनशीलता इतनी न उभरे कि व्यक्ति

घटना के साथ जुड़ जाए तो दुःख नहीं होगा। आज व्यक्ति घटना को देखता नहीं है, भोगता है। यही स्थिति तनाव पैदा करती है।

आतंघ्यान : मानसिक तनाव

प्राचीन काल में तनाव की मात्रा कम थी। आतंघ्यान और मानसिक तनाव—दो नहीं हैं। आतंघ्यान के जो चार प्रकार हैं, वे मानसिक तनाव के प्रकार हैं—

१. प्रिय के वियोग से होने वाले मानसिक संताप।

२. अप्रिय के संयोग से होने वाला मानसिक संताप।

३. रोग-वेदना से होने वाला मानसिक संताप।

४. प्रिय का संयोग वियोग में न बदल जाए, इस चिन्ता से उत्पन्न मानसिक संताप।

यह आतंघ्यान आज की भाषा में मानसिक तनाव है। केवल गृहस्थ को ही नहीं, मुनि को भी आतंघ्यान हो सकता है इसीलिए पांचवे-छठे गुणस्थान में आतंघ्यान माना गया है। प्राचीन काल में यह प्रबल नहीं था। हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि आज जो मानसिक तनाव बढ़ा है, उसमें दुःषमा काल भी कारण बना है। यह स्पष्ट है—समस्याएं ज्यादा उलभी हैं, मनोबल घटा है। हम इसमें काल का प्रभाव क्यों नहीं मानें? आज से सौ वर्ष पहले आदमी में जितनी सहन करने की शक्ति थी, उतनी आज नहीं है। आज छोटा बच्चा भी सहन नहीं कर सकता। शिष्य हो, पुत्र हो या कर्मचारी, सहन करना कोई नहीं जानता है। सहिष्णुता कम होगी तो मन का दुःख बढ़ेगा।

वचन का दुःख

दुःषमाकाल का सातवां लक्षण है वचन का दुःख। सहज प्रश्न उभरता है—दुःख का संवेदन मन में हो सकता है, किन्तु वचन में कोई दुःख होता ही नहीं है। वचन संवेदनात्मक प्रक्रिया नहीं है, फिर उससे दुःख कैसे होगा? इसका अर्थ होना चाहिए—दुःषमा काल में वचन सम्बन्धी दुःख मिलता है। वचन के बाण इतने जहरीले होते हैं कि व्यक्ति दुःख से आप्ला-वित हो जाता है। प्रश्न हो सकता है—जिसको सुषमा कहा जाता है, क्या उस समय वचन के तीर कम थे? पुराने जमाने में भी वचन का तीखापन कम नहीं था। यदि तीखापन नहीं होता तो दशवैकालिक में यह क्यों कहा जाता—

मुहुत्तदुःखा हु हवन्ति कंटया, अओमया तेवि तओ सुउद्धरा ।

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

१. ठालं ४/६१

२. दसवेआलियं ९/३/७

कितना है वचन का दुःख

महाभारत क्यों हुआ ? एक वचन का बाण काम कर गया । महाभारत का युद्ध छिड़ गया । बड़ी-बड़ी घटनाएं इस वाचिक विद्रोह के कारण हुई हैं । हम वर्तमान के चुनावी माहौल को देखें । वे लोग, जिन्हें पूरे राष्ट्र की सत्ता को संभालना है, जब खुले बाजार में एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते हैं, वचन के तीर फेंकते हैं, तब ऐसा लगता है—वचन का दुःख कितना है । जहां ऐसी मानसिकता बन गई है, वहां यह स्वीकार करने में क्या कठिनाई है—यह दुःषमा काल का प्रभाव है । उसका इतना प्रभाव है कि व्यक्ति अपनी वाणी पर नियंत्रण रखना शोभाजनक मानता ही नहीं है । वह यह नहीं जानता—मैं ओछी बात कहूंगा तो बड़प्पन से च्युत हो जाऊंगा । सज्जनता का लक्षण माना गया—सज्जन किसी का अपमान नहीं करता, किसी पर आरोप नहीं लगाता, किसी को गाली नहीं देता । आज तो यह सब करना सम्मत जैसा हो गया है । क्या इसे काल का प्रभाव न मानें ?

सतयुग : सात लक्षण

स्थानांग सूत्र में सतयुग के सात लक्षण बतलाए गए हैं, जिनसे जाना जा सकता है—यह सुषमा काल है । वे सात लक्षण ये हैं^१—

१. अकाल में वर्षा नहीं होती ।
२. समय पर वर्षा होती है ।
३. असाधुओं की पूजा नहीं होती ।
४. साधुओं की पूजा होती है ।
५. व्यक्ति गुरुजनों के प्रति विनम्र व्यवहार करता है ।
६. मन सम्बन्धी सुख होता है ।
७. वचन संबंधी सुख होता है ।

मुक्ति का उपाय

हम काल को मानकर चलें । कलियुग और सतयुग को सर्वथा अस्वीकार न करें । युग का प्रभाव होता है । उसकी मात्रा कम या ज्यादा हो जाती है । वह इसलिए होती है कि व्यक्ति काल से पूर्णतः प्रतिबद्ध नहीं है । यदि हम समाधि की अवस्था में चले जाएं तो काल का प्रभाव नहीं होता । काल के प्रभाव को टालने का यही उपाय है—जप और ध्यान में बैठ जाओ । प्रभु का स्मरण और भजन करो, तपस्या और धर्म-ध्यान करो । इससे काल का प्रभाव कम हो जाएगा । हम दोनों अवस्थाओं में जीते हैं किन्तु हमें कालातीत अवस्था में जाने का प्रयास करना चाहिए, जिससे हम

कम से कम अपना मार्ग प्रशस्त कर सकें । भगवान महावीर ने जो काल के लक्षण बतलाए हैं, वे ज्योतिष, खगोल और भूगोल से संबंधित हैं, खगोलीय और आकाशीय विकिरणों से संबंधित हैं । इन सारे प्रभावों को समझ कर हम काल की प्रतिबद्धता से, काल के चक्र से, मुक्त हो सकते हैं । उस मुक्ति का साधन-सूत्र है—तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान और समाधि का योग ।

अकालमृत्यु के सात कारण

मनुष्य की आकांक्षा

जीवन और मरण का चक्र पूरा कालचक्र है। अध्यात्म के मनीषी व्यक्तियों ने कहा—आदमी जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। यह एक सामान्य चाह है। जब आदमी मरना नहीं चाहता तब न मरने के उपाय भी खोजे गए। 'मैं अमर बनूँ, अमृतत्व को उपलब्ध होऊँ,' यह मनुष्य की चिर आकांक्षा रही है। ऐसा अमृत और जड़ी-बूटी खोजी जाए, जिससे आदमी मरे नहीं। आज के वैज्ञानिक भी इस खोज में लगे हुए हैं। आदमी को मृत्यु से कैसे बचाया जाए? इस दिशा में बहुत प्रयत्न चलते रहे हैं, चल रहे हैं। पर सच्चाई यह है—आदमी मरता रहता है, मरता रहता है और मरता रहेगा। कोई अमर नहीं बना। देवता भी अमर नहीं बने।

दीर्घायु : अल्पायु : अयथायु

यह मृत्यु का प्रश्न बहुत जटिल है। आदमी एक बार जीने के बाद संसार छोड़ने से घबराता है। सुखी आदमी भी घबराता है और दुःखी आदमी भी। लोग कह देते हैं—मौत आती नहीं, हम क्या करें? पर जब सचमुच मौत का प्रसंग आता है, तब बहुत घबरा जाते हैं। मरने की रट लगाने वाले भी वस्तुतः मरना नहीं चाहते। व्यक्ति अमर भी हो सकता इसीलिए निर्वाण को अमर माना गया किन्तु जब तक शरीर का धारण है तब तक कोई अमर नहीं होता। जीना नियति है। जीने के दो प्रकार होते हैं—यथायु और अयथायु। जो यथायु होता है, वह पूरा जीवन जीता है। जो अयथायु होता है, वह पूरा जीवन नहीं जीता, बीच में ही मर जाता है। यह बीच में मरने वाली बात चिन्तन को विवश करती है। तीन शब्द हैं—दीर्घायु, अल्पायु और अयथायु। एक व्यक्ति की आयु लम्बी है वह दीर्घायु है और एक व्यक्ति की आयु अल्प है, वह अल्पायु है। एक व्यक्ति को जितना जीना है वह उतना नहीं जीता, वह अयथायु है।

अकाल मृत्यु : सात कारण

प्रश्न होता है—आदमी को जितना जीना है, उतना वह क्यों नहीं जी पाता? इसका कारण क्या है? उसकी अकालमृत्यु क्यों होती है? वह अतमय में मौत के मुंह में क्यों चला जाता है? जैन आगमों में अकालमृत्यु

के कारणों की मीमांसा की गई है। भगवान् महावीर ने कहा—सात ऐसे कारण हैं, जिनसे व्यक्ति अकालमृत्यु को प्राप्त होता है^१—

१. अध्यवसान—राग, स्नेह, भय आदि की तीव्रता।
२. निमित्त—शस्त्र-प्रयोग आदि।
३. आहार—आहार की न्यूनधिकता।
४. वेदना—नयन आदि की तीव्रतम वेदना।
५. पराघात—गड्ढे आदि में गिरना।
६. स्पर्श—साँप आदि का डसना।
७. आनापान—उच्छ्वास-निःश्वास का निरोध।

अध्यवसान

अकालमृत्यु का सबसे प्रमुख कारण है अध्यवसान। हमारे संवेग और भाव अकालमृत्यु के प्रबल हेतु बनते हैं। इन संवेगों पर नियन्त्रण हो तो आयु घटने का कारण बंद हो सकता है किंतु यह होता नहीं है। आदमी का जीवन इतना जटिल और विचित्र है कि वह संवेगों के बिना एक घंटा भी जीता नहीं है। आदमी को प्रतिपल कोई न कोई संवेग सताता रहता है। इसी आधार पर कहा गया है—आदमी का मूड बदलता रहता है। ये संवेग आयु को बहुत ज्यादा क्षीण करते हैं। यह बहुत आंतरिक और सूक्ष्म कारण है। बाहर से इसका पता नहीं चलता। व्यक्ति कभी ज्यादा खा लेता है और गड़बड़ हो जाती है। सहज पता चल जाता है—बीमारी का कारण है ज्यादा खाना। संवेग नितांत आंतरिक मामला है। यह भीतर ही भीतर इतना प्रभावित करता है जीवन को, इतना शोष लेता है कि व्यक्ति को, पता ही नहीं चलता। यह संवेगों की जटिल पहली मनुष्य के सामने नहीं होती तो आदमी सौ वर्ष से पहले मरता ही नहीं।

निर्धारक है आयुष्य कर्म

एक जापानी नागरिक ने पूछा—हमारे जीवन के निर्धारण का काम कौन करता है? कहा गया—जीवन का निर्धारण करता है आयुष्य कर्म। वह जीवन का निर्धारक है। इस तथ्य को पुष्ट करने वाले बहुत प्रमाण मिलते हैं। बड़ी से बड़ी दुर्घटना हो गई, आदमी नहीं मरा। शरीर में कोई ताकत नहीं है, फिर भी आदमी नहीं मरा। एक मरणासन्न महिला भी तब तक नहीं मरती जब तक आयुष्य कर्म शेष है। डाक्टर ने एक वृद्ध महिला को देखा। उसने कहा—यह कैसे जी रही है, यह आश्चर्य है। इसके संदर्भ में हमारे मेडिकल साइंस के सारे नियम फेल हो गए हैं। हमें मानना होगा—आयुष्य कर्म है। एक वृद्ध साध्वी ने अनशन किया। बिना कुछ खाए-पीए

वह पच्चीस दिन तक जीवित रही। उसने एक बूंद पानी भी नहीं पीया। वह इतने दिन किस आधार पर जीवित रही। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं। मानना होगा—एक जिलाने वाली शक्ति है। कुछ लोगों ने उसे ईश्वरीय शक्ति कह दिया। यदि ऐसा होता तो वह एक को क्यों मारती और एक को क्यों जिलाती? वस्तुतः मारने वाली या जिलाने वाली अपनी ही शक्ति है और वह है आयुष्य कर्म। आज के वैज्ञानिक मानते हैं—जीवन का निर्धारण जीन के द्वारा होता है। जब मृत्यु का समय नजदीक आने लगता है तब जीन की सारी शक्तियां कम होने लग जाती हैं। इस आधार पर वैज्ञानिकों ने माना—जीवन का निर्धारक है जीन। जैन दर्शन की मान्यता है—जीवन का निर्धारक है आयुष्य कर्म।

रहस्य सूत्र

आयुष्य कर्म को भोगने के प्रकार अलग-अलग हैं। कभी-कभी आयुष्य कर्म को ठीक अपनी गति से भोगा जाता है और कभी-कभी उस गति को त्वरा दे दी जाती है। जब गति तेज होती है तब आयुष्य जल्दी भोग लिया जाता है। यह गति तेज करने का नाम है—अकालमृत्यु। इसमें आयुष्य को भोगने गति तेज हो जाती है। व्यक्ति पैदल चलता है तब अधिक समय लगता है। जब वह गति तेज करता है, दौड़ने लग जाता है तब जल्दी पहुंच जाता है। इसी प्रकार आयुष्य कर्म को जल्दी भोगना है तो गति तीव्र कर दी जाए। यही है अकाल मृत्यु का रहस्य-सूत्र। जब आदमी को दौड़ना होता है तब एड्रिनेलिन का स्राव ज्यादा होता है। एक ओर एड्रिनेलिन का स्राव ज्यादा होता है, दूसरी ओर सूगर जमा होता है, ये सारे मिलकर गति में तीव्रता ला देते हैं, आदमी दौड़ने लग जाता है। एड्रिनेलिन का काम करता है अध्यवसान। संवेग की तीव्रता, भय और ईर्ष्या की तीव्रता, क्रोध और लोभ की तीव्रता—इन सबका परिणाम है अकालमृत्यु।

आधार है प्राणशक्ति

आजकल अकाल मृत्यु बहुत होने लगी है। हार्ट, किडनी और लीवर—ये तीनों इसमें भागीदारी निभा रहे हैं। इसमें महत्त्वपूर्ण कारण है अध्यवसाय। मेडिकल साइंस ने ध्यान केन्द्रित किया है अवयवों पर। अवयव ठीक काम करता है तो आदमी जीता है। अवयव ठीक काम नहीं करते हैं तो आदमी बीमार हो जाता है। हार्ट, लीवर, किडनी, तिल्ली, फेफड़े—ये सम्यक् काम करते हैं तो आदमी जीता है। ये काम करना बन्द कर देते हैं तो आदमी मर जाता है। मेडिकल साइंस ने इस बात पर ध्यान दिया पर इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इन अवयवों को चलाने वाला कौन है? इन्हें ठीक से काम करते रहने का निर्देश देने वाला कौन है? इन्हें चलाने

वाली शक्ति है प्राणशक्ति । जब तक प्राणशक्ति है तब तक ये अवयव ठीक काम करेंगे । जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाएगी तब वे अपना काम करना बन्द कर देंगे ।

कारण है अध्यवसाय

अध्यवसाय प्राणशक्ति को कमजोर बनाते हैं । लोभ ज्यादा होगा, प्राणशक्ति क्षीण हो जाएगी । प्रायः यह देखा गया है—अधिक लोभ के कारण अकालमृत्यु ज्यादा होती है । अधिक भय के कारण भी ऐसा होता है । भय और लोभ—परस्पर जुड़े हुए हैं । व्यक्ति को आंतरिक कारणों का पता नहीं चल रहा है । निदान करने वाले बहुमूल्य वैज्ञानिक यन्त्र भी निदान नहीं कर पा रहे हैं । कारण क्या है ? भीतर है अध्यवसाय । वह मार रहा है और नाम होता है अवयवों का । समाधान कैसे मिलेगा ? इसका समाधान केवल बाह्य उपकरणों पर निर्भर रहने से नहीं मिलेगा । उसकी प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक दिशा में खोज करनी होगी ।

आनापान

अकालमृत्यु का एक कारण है आनापान । श्वास भी मौत का कारण बनता है । यह जिलाने का कारण है तो मारने का कारण भी है । श्वास के पीछे एक शब्द लगाया जाता है—सम्यक् श्वास । यदि आदमी सही ढंग से श्वास लेता है तो श्वास पूरी आयु का कारण बन जाता है । व्यक्ति गलत ढंग से श्वास लेता है तो वह मौत का हेतु बन जाता है । बहुत सारे लोग जीवन और श्वास को साथ जोड़ते हैं । उनकी भाषा होती है—जितना श्वास लिखा है उतना ही श्वास आएगा, उतना ही जीवन होगा । वास्तव में ऐसा नहीं है । श्वास एक मापक तो हो सकता है, जो जीवन को माप लेता है किन्तु वह जीवन के साथ जुड़ा हुआ नहीं है । वह लुहार की धौंकनी—भस्त्रिका है । श्वास कितना लेना और कितना न लेना—इस पर आयु निर्भर नहीं है । वह इस बात पर निर्भर है—यदि श्वास ज्यादा लेंगे तो आयु जल्दी क्षीण होगी । श्वास कम लेंगे तो आयुष्य लंबा चलेगा । दीर्घायु होने का योग का एक फार्मूला है—दीर्घ श्वास का प्रयोग । जो व्यक्ति दीर्घ श्वास का अभ्यास करेगा, वह अकालमृत्यु से बहुत बच जाएगा ।

बचने के उपाय

अकालमृत्यु का पहला कारण है अध्यवसाय और सातवां कारण है आनापान । ये दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं । यदि आनापान पर नियन्त्रण है तो अध्यवसाय पर भी नियन्त्रण होगा । अध्यवसाय पर नियन्त्रण होगा तो आनापान पर भी अपने आप नियन्त्रण हो जाएगा । जीवन के लिए आनापान

का, श्वास का मूल्यांकन करना बहुत जरूरी है। आहार का संयम, अध्यवसाय का नियन्त्रण और दीर्घश्वास का प्रयोग—ये अकालमृत्यु से बचने के महत्त्वपूर्ण उपाय हैं। जितना जीवन है, उसे अच्छे और पवित्र ढंग से जीना चाहिए। यदि ये तीन उपलब्ध हैं तो जीवन बहुत अच्छा चलेगा, अकालमृत्यु का खतरा भी नहीं होगा। जितना जीवन जीया जाएगा, वह पवित्र और समाधिपूर्ण होगा। जब मौत उपलब्ध होगी तब वह भी शांति और सुख से अनुप्राणित होगी। न मौत भय का कारण बनेगी, न जीवन अशांति से भरा होगा। ये प्रयोग शांतिपूर्ण जीवन और समाधिपूर्ण मृत्यु के रहस्य-सूत्र हैं। हम इनका अभ्यास करें, शांति, सुखी एवं दीर्घ जीवन का मंत्र उपलब्ध होगा, अकालमृत्यु का खतरा मिट जाएगा।

गणि सम्पदा

संघ और संघपति—इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है। संघ शक्तिशाली तभी होता है, जब संघपति शक्तिशाली होता है। वह संघ धन्य होता है, समुद्र होता है, जिसका संघपति सुदृढ़ और शक्तिशाली होता है। संघपति को मापने के लिए अनेक मानदण्ड प्रस्तुत किए गए हैं। संघ की संपन्नता के लिए जरूरी है कि उसका आचार्य संपन्न हो। संपन्नता पदार्थ से भी होती है और व्यक्ति की विशिष्टता से भी होती है। संघपति, गणि या आचार्य के पास आठ प्रकार की संपदाएं होनी चाहिए। उसके पास आठ प्रकार के ऐसे संपत्ति भण्डार होते हैं, जो दूसरों को भी लाभान्वित करते हैं। उससे संघ की यशस्विता और वर्चस्विता का विकास भी होता है।

आठ सम्पदाएं

स्थानांग सूत्र में आचार्य की आठ सम्पदाओं का उल्लेख है, उसकी पृष्ठभूमि में अनेक दृष्टियां हैं^१—

१. आचार संपदा—संयम की समृद्धि।
२. श्रुत संपदा—श्रुत की समृद्धि।
३. शरीर संपदा—शरीर-सौन्दर्य।
४. वचन संपदा—वचन-कौशल।
५. वाचना संपदा—अध्यापन-पटुता।
६. मति संपदा—बुद्धि-कौशल।
७. प्रयोग संपदा—वाद-कौशल।
८. संग्रह परिज्ञा—संघ व्यवस्था में निपुणता।

आचार संपदा

पहली सम्पदा है आचार संपदा। आचार्य आचार की संपदा से सम्पन्न होता है। वह आचार सम्पदा से इतना सम्पन्न होता है कि संघ के प्रत्येक सदस्य के लिए आधारभूत बन जाता है। उसके आचार की इतनी रश्मियां विकीर्ण होती हैं कि वे आभा-किरणों पूरे परिपार्श्व को प्रभावित कर देती हैं। आचार सम्पदा के चार विकल्प हैं—

१. संयम-ध्रुवयोगयुक्तता—चारित्र में सदा समाधि युक्त होना ।
२. असंप्रग्रह —जाति, श्रुत आदि मदों का परिहार ।
३. अनियतवृत्ति —अनियत विहार ।
४. वृद्धशीलता —शरीर और मन की निर्विकारता, अचंचलता ।

श्रुत सम्पदा

आचार्य आचार सम्पन्न है, किन्तु श्रुत सम्पन्न नहीं है, तो उसका मूल्य कम होगा । श्रुत के बिना बाह्य वातावरण में आचार का प्रभाव भी बढ़ता नहीं है । व्यक्ति बहुत आचारवान् है किन्तु वह लिखना, पढ़ना और बोलना नहीं जानता है, तो दूसरों के लिए कम उपयोगी होगा । केवलज्ञान अच्छा है, पर श्रुतज्ञान नहीं है तो वह कितना काम का होगा । उससे संघ की प्रभावना नहीं होगी, व्यक्ति दूसरों तक अपनी बात का संप्रेषण नहीं कर पाएगा । संघ की वर्चस्विता तभी बढ़ती है, जब आचार्य आचार के साथ श्रुत संपदा से सम्पन्न होता है । जीवन विज्ञान में यही बताया जाता है—श्रुत सम्पन्नता के साथ-साथ आचार सम्पन्नता का ज्ञान भी कराया जाए । आचार संपन्नता अपने जीवन की पवित्रता के लिए है और श्रुत सम्पन्नता दूसरों को पवित्र बनाने के लिए है । आचार सम्पन्नता का अर्थ है—स्व-जीवन की पवित्रता । श्रुत संपन्नता का अर्थ है—संप्रेषणता, दूसरों तक पहुंचने की क्षमता, विश्व को अपना दर्शन समझाने की क्षमता । जब आचार और श्रुत—दोनों होते हैं, तब परिपूर्ण व्यक्तित्व बनता है ।

श्रुत सम्पदा के चार विकल्प हैं—

१. बहुश्रुतता—अंग और उपांग श्रुत में निष्णातता ।
२. विचित्र सूत्रता—स्व और पर—दोनों परम्पराओं में निपुणता ।
३. परिचितसूत्रता—आगमों से चिर परिचित होना ।
४. घोष-विशुद्धि-कर्ता—सूत्र उच्चारण का स्पष्ट अभ्यास कराने की समर्थता ।

शरीर संपदा

आचार्य के लिए केवल आंतरिक व्यक्तित्व को ही नहीं, बाहरी व्यक्तित्व को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है । बाहरी व्यक्तित्व का भी अपना मूल्य होता है । आचार और श्रुत की संपन्नता जरूरी है । शरीर की संपदा भी बहुत विशिष्ट होनी चाहिए, पर उसकी अनिवार्यता नहीं है । शरीर संपदा के चार विकल्प हैं—

१. आरोह-परिणाह युक्तता—आरोह का अर्थ है ऊंचाई और परिणाह का अर्थ है—विशालता । इस सम्पदा का तात्पर्य है—शरीर का उचित ऊंचाई और विशालता से सम्पन्न होना ।

२. अनवत्रपता—अलज्जनीय अंग वाला होना ।
३. परिपूर्ण इन्द्रियता—पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता और स्वस्थता ।
४. स्थिर संहतन होना ।

वचन सम्पदा

आचार्य की एक संपदा है—वचन सम्पदा । आचार्य इस सम्पदा से सम्पन्न होता है तो उसकी बात कोई टाल नहीं सकता । एक बार जो बात कहे, वह शिरोधार्य हो जाए, सारे तर्क समाप्त हो जाए । वचन सम्पदा के चार विकल्प हैं—

आदेयं वचनं पुण्यं, मधुरं वचनं तथा ।

अनिश्रितमसंदिग्धं, एषा वचनसंपदा ॥

१. आदेय वचनता—जिसके वचन को सब स्वीकार करे ।

२. मधुर वचनता—अपरुष वचन, अर्थयुक्त वचन या क्षीराश्रव लब्धियुक्त वचन ।

३. अनिश्रित वचनता—मध्यस्थ वचन । आचार्य की वाणी कभी इधर और कभी उधर झुकी हुई नहीं होती । वह वचन मध्यस्थ होता है, जो क्रोध आदि से उत्पन्न नहीं होता, राग-द्वेष से युक्त नहीं होता ।

४. असंदिग्ध वचनता—संदिग्ध या भरमाने वाली बात न करना । आचार्य का वचन निर्णायक होता है ।

ये चारों संपदाएं एक दूसरे को जोड़ने वाली, समाज को जोड़ने वाली सम्पदाएं हैं ।

वाचना सम्पदा

पांचवी है वाचना सम्पदा । जो आचार्य इस सम्पदा से सम्पन्न नहीं होता, उसका संघ यशस्वी नहीं बनता । ऐसे आचार्य हुए हैं, जो केवल अपने तक सीमित रहे, शिष्यों पर ध्यान नहीं दिया । गर्गाचार्य के बारे में कहा जाता है—उनके शिष्य अविनीत थे । यह एक कोण हो सकता है, पर दूसरा कोण यह भी हो सकता है—गर्गाचार्य ने अपने पर ही ज्यादा ध्यान दिया, अपने शिष्यों को तैयार करने पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया । वह आचार्य कुशल होता है, जो शिष्यों का उत्पादन भी करता है और निष्पादन भी करता है । प्रश्न आया—वाचना किसलिए ? कहा गया—शिष्यों को तैयार करने के लिए । वाचना का अर्थ है अध्यापन । पाठ पढ़ाना, पदच्छेद कराना, चालना कराना, धोषविशुद्धि—सही उच्चारण कराना—ये सारे वाचना के अंग हैं । स्थानांग वृत्तिकार ने वाचना सम्पदा के चार विकल्प बतलाए हैं—

१. विदित्वोद्देशन—शिष्य की योग्यता को जानकर उद्देशन करना ।
२. विदित्वासमुद्देशन—शिष्य की योग्यता को जानकर समुद्देशन करना ।

३. परिनिर्वाप्य वाचना—पहले दी गई वाचना को पूर्ण हृदयंगम करा कर आगे की वाचना देना ।

४. अर्थनिर्यापणा—अर्थ के पौर्वापर्य का बोध कराना ।

मति सम्पदा

छूठी सम्पदा है मति सम्पदा । उसके चार विकल्प हैं—१. अवग्रह
२. ईहा ३. अवाय ४. धारणा ।

इस संपदा का अर्थ है—आचार्य का मस्तिष्क सुपर कम्प्यूटर होना चाहिए, तभी संघ के विकास को बल मिल सकता है ।

प्रयोग संपदा

सातवीं संपदा है—प्रयोग सम्पदा । आचार्य में प्रयोग करने की कुशलता होनी चाहिए । वह अपनी शक्ति को देखकर वाद करने वाला होना चाहिए, परिषद् और क्षेत्र को देखकर वाद करने वाला होना चाहिए । प्रयोग सम्पदा का अर्थ है—वाद का पोषण । आचार्य को कब वाद करना चाहिए और कब नहीं करना चाहिए, यह ज्ञान होना आवश्यक है ? वाद कौशल के चार विकल्प बतलाए गए हैं—

१. आत्म परिज्ञान—वाद या धर्म कथा में अपने सामर्थ्य का परिज्ञान ।
२. पुरुष परिज्ञान—वादी के मन का ज्ञान, परिषद् का ज्ञान ।
३. क्षेत्र परिज्ञान—वाद करने के क्षेत्र का ज्ञान ।
४. वस्तु परिज्ञान—वाद-काल में निर्णायक रूप में स्वीकृत सभापति आदि का ज्ञान ।

संग्रह संपदा

आठवीं सम्पदा है—संग्रह सम्पदा । संघ की व्यवस्था एवं विकास के लिए शिष्यों का संग्रह और वर्षावास के क्षेत्रों का संग्रह अपेक्षित होता है । स्वाध्याय तथा शिष्यों में यथोचित विनय की व्यवस्था को बनाए रखना—ये सारे क्रम प्रयोग सम्पदा से जुड़े हुए हैं ।

आचार्य की ये आठ सम्पदाएं और ऋद्धियां हैं । इनसे सम्पन्न आचार्य स्वयं शक्तिशाली होता है, संघ शक्तिशाली होता है । इन आठ सम्पदाओं की तेरापथ के सन्दर्भ में मीमांसा करें । किस-किस आचार्य में कितनी-कितनी सम्पदाएं विकसित थीं, यह अन्वेषण का विषय हो सकता है । यदि वर्तमान को देखें तो कहा जा सकता है—पूर्ववर्ती आठ आचार्यों की सम्पदाओं को एक ही जगह नियोजित कर दिया गया है । यह तेरापथ का सौभाग्य है—उसे ऐसे आचार्य मिले हैं, जो आठों सम्पदाओं से सम्पन्न हैं । उनके नेतृत्व में तेरापथ अध्यात्म के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए समर्पित है ।

संघ विकास के लिए सतत जागरूकता

व्यक्ति और संघ—ये दो शब्द हैं। व्यक्ति अकेला है और संघ अनेक व्यक्तियों का समूह। व्यक्ति स्वस्थ, संघ स्वस्थ। प्रश्न है, व्यक्ति और संघ—दोनों का आरोग्य कैसे बना रहे? उसके लिए एक आचार-संहिता है और वह अप्रमाद की आचार-संहिता है। संघ जागरूक कैसे रह सकता है? व्यक्ति जागरूक कैसे रह सकता है?

स्वस्थता के सूत्र

हम पहले व्यक्ति को लें, क्योंकि व्यक्ति के बिना संघ नहीं बनता। बिन्दु के बिना सिन्धु नहीं बनता। न्यायशास्त्र में व्यक्ति और जाति पर बहुत चर्चा है। हमें व्यक्ति पर ध्यान देना होगा। भगवान् महावीर ने व्यक्ति और संघ—दोनों की स्वस्थता के लिए आठ सूत्रों का प्रतिपादन किया। उनमें पहले चार सूत्र व्यक्तिगत स्वास्थ्य के लिए हैं और अन्तिम चार सूत्र संघीय स्वास्थ्य के लिए हैं—

१. अश्रुत धर्मों को सम्यक् प्रकार से सुनने के लिए जागरूक रहना।
२. सुने हुए धर्मों के मानसिक ग्रहण और उनकी स्थिर स्मृति के लिए जागरूक रहना।
३. संयम के द्वारा नए कर्मों का विशोधन करने के लिए जागरूक रहना।
४. तपस्या के द्वारा पुराने कर्मों का विवेचन और निरोध करने के लिए जागरूक रहना।
५. असंगृहीत शिष्यों को आश्रय देने के लिए जागरूक रहना।
६. शैक्ष—नवदीक्षित मुनि को आचार-गोचर का सम्यग् बोध कराने के लिए जागरूक रहना।
७. ग्लान की अग्लान भाव से सेवा करने के लिए जागरूक रहना।
८. सार्धमिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर, मध्यस्थ भाव को स्वीकार कर उसे उपशान्त करने के लिए जागरूक रहना।

अश्रुत का श्रवण

महावीर का पहला निर्देश है—जो धर्म नहीं सुने हैं, उन्हें सुनने के

लिए प्रमाद नहीं करना है, निरन्तर जागरूक रहना है। हमने अभी सुना क्या है? दुनिया बहुत बड़ी है। बहुत बातें अश्रुत हैं। न जाने कितना समय लग जाए सब कुछ सुनने और जानने में। ज्ञान का कोई अंत नहीं है। नई-नई बातें सुनो, नई नई बातें पढ़ो, नया ज्ञान करो। कितनी बड़ी है ज्ञान राशि। एक पूर्व का ज्ञान भी यदि सामने रख दिया जाए तो आदमी अवाक् रह जाए। उतना ज्ञान है एक पूर्व में। यह वैयक्तिक जागरूकता का सूत्र है—ज्ञान के लिए सदा सावधान और अप्रमत्त बने रहो।

श्रुत का परिशीलन

महावीर का दूसरा निर्देश है—जो श्रुत धर्म है, जितना सुना या जाना है, उसके सम्यग् अवग्रहण और अवधारण के लिए जागरूक रहो। जो सुना है, उसका अवग्रहण करो। ईहा, अवाय और धारणा करो। उसकी स्मृति करो। अवग्रह से स्मृति तक की जो प्रक्रिया है, वह ज्ञान को व्यापक बनाने की प्रक्रिया है। जैसे पानी में तेल की बूंद फैल जाती है वैसे ही इस प्रक्रिया से हमारा ज्ञान व्यापक बन जाता है।

व्यक्ति का विकास : संघ का विकास

ज्ञान को ग्रहण करने की प्रक्रिया और ज्ञान को व्यापक बनाने की प्रक्रिया—ये दोनों ज्ञान की आराधना के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। हमारी जिज्ञासा बनी रहे, नई बातों को जानने रहें तो ज्ञान का विकास हो सकता है। संघ का जो विकास हुआ है, उसका कारण है—नया नया ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता। ये व्यक्तिगत विकास के दो सूत्र हैं, जो संघ को भी प्रभावित करते हैं। इस दृष्टि से ये संघीय विकास के सूत्र भी माने जा सकते हैं। संघ से जुड़ा व्यक्ति जितना ज्ञान का विकास करेगा, संघ का भी उतना ही ज्यादा विकास होगा। व्यक्ति-विकास से जुड़ा है संघ का विकास।

नए कर्म का अर्जन न हो

महावीर का तीसरा निर्देश है—व्यक्ति यह चिन्तन करे कि नए कर्म का अर्जन न हो, नया बंधन न हो। व्यक्ति सोचे—मैंने मुक्ति का मार्ग समझा है, आत्मा की शुद्धि का मूल्य समझा है। पहले अज्ञान या प्रमादवश कुछ कर्म किए हैं किन्तु अब नया बंधन न करूं। यह जागरूकता होनी चाहिए। नए सिरे से यह मकड़ी अपने लिए जाला न बुने। यह रेशम का कीड़ा अपने लिए कोश न बनाए। फिर उसी कोश में न फंस जाए। यह संभव है संयम की साधना के द्वारा। आसक्ति न जागे। जब यह आत्म-आराधना का चिन्तन प्रस्फुटित होता है—नए कर्मों का संग्रह न हो, तब व्यक्ति शक्तिशाली बन जाता है, तेजस्वी और यशस्वी बन जाता है। उसकी सारी दरिद्रता दूर हो जाती है।

भिखारी कौन ?

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता हुए हैं महर्षि कणाद । उनका मूल नाम कणाद नहीं था । यह नाम क्यों हुआ ? जब खेत-खलिहान निकाळ लिए जाते तब वे बिखरे हुए अन्न के दानों को चुन चुन कर खाते इसलिए उनका नाम पड़ गया कणाद । ऋषि कणाद बहुत संयमी थे । राजा को पता लगा—मेरे राज्य में ऐसा आदमी है, जो अन्न के दाने चुग चुग कर पेट भरता है । राजा ने अपने कर्मकरों के साथ खाने का सामान भेजा । महर्षि कणाद ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है । जो गरीब हैं, उन्हें बांट दो यह भोजन । राजा स्वयं महर्षि के पास आया । उसने बहुत सारा धन-धान्य राजा को उपहृत करना चाहा । महर्षि ने वही उत्तर दिया—उन्हें बांट दो, जो गरीब हैं । राजा ने मुस्कुराते हुए कहा—तुमसे ज्यादा गरीब कौन होगा ? महर्षि कणाद ने फिर भी कुछ नहीं लिया । राजा महलों में लौट आया । रानी ने कहा—महाराज ! आपको उसे गरीब नहीं कहना चाहिए । उसके पास स्वर्ण-सिद्धि की विद्या है । आपको उससे स्वर्ण-सिद्धि की याचना करनी चाहिए । राजा के मन में लोभ जाग गया । वह महर्षि के पास आया । राजा ने महर्षि से क्षमा मांगते हुए कहा—महाराज ! स्वर्ण-सिद्धि की विद्या सिखाएं । राजा लालची की मुद्रा में महर्षि के सामने हाथ जोड़कर खड़ा था । कणाद बोले—राजन् ! तुम मुझे गरीब बता रहे थे । गरीब तुम हो या मैं ? भिखारी कौन है ? क्या मैं कभी तुम्हारे दरवाजे पर मांगने आया ? राजा का सिर लज्जा से नीचे झुक गया ।

जहां अनासक्ति, त्याग और संयम का तेज होता है वहां दिव्यता प्रगट होती है । यह महान् सूत्र है—मेरा संयम इतना बढ़े कि नए कर्मों का बंधन न हो । जब यह स्थिति आती है, तेजस्विता बढ़ जाती है ।

पुराने बंधन टूटे

महावीर का चौथा निर्देश है—जो कर्म संचित है, पुराना जो भंडार भरा है, उस खजाने को खाली करो । घर में वर्षा का जो पानी आ रहा है, उसे संयम के द्वारा रोको और तपस्या के द्वारा उसे उलीच कर खाली करो । जब ये दोनों बातें होंगी—नया बंधन नहीं हो रहा है, पुराने बंधन टूटते जा रहे हैं, तब आत्मा में दिव्य प्रकाश और दिव्य ज्योति का जागरण होगा ।

दायित्व : उत्तरदायित्व

ये चार निर्देश व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए हैं । ये व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । हम संघ के सदस्य हैं किन्तु उससे पहले यह सोचें—हम व्यक्ति हैं और व्यक्ति के नाते हमारा दायित्व क्या है ? ये

सूत्र मुनिचर्या या व्यक्तित्व निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसका उपयोग और प्रयोग प्रत्येक साधनाशील व्यक्ति का सहज स्वीकृत दायित्व होना चाहिए।

व्यक्ति केवल व्यक्ति नहीं है। वह संघ और समाज का सदस्य है। वह यह सोचे—मैं अकेला मनका नहीं हूँ किन्तु माला में पिरोया हुआ मनका हूँ। व्यक्ति अपना विकास करे, यह उसका दायित्व है। वह संघ का विकास करे, यह उसका उत्तरदायित्व है।

शिष्यों का संग्रह

संघीय स्वास्थ्य के संदर्भ में महावीर का पहला निर्देश है—शिष्यों का संग्रह करना। शिष्यों का उत्पादन करना, उन्हें तैयार करना, व्यक्ति का संघीय उत्तरदायित्व है। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य है परिवार को विकसित करना। यह ऐसा संग्रह है—संयम की नौकाओं का निर्माण करो और लोगों को पार उतारो। ऐसे माध्यमों का संग्रह करो, जो स्व और पर—दोनों के लिए कल्याणकारी सिद्ध हों। शिष्य संग्रह का उद्देश्य है—संयमनिष्ठ व्यक्तियों का निर्माण।

आचार का शिक्षण

संघीय स्वास्थ्य के संदर्भ में महावीर का दूसरा निर्देश है—केवल संग्रह ही मत करो। जो नए लोग जुड़े हैं, उन्हें आचार-गोचर सिखाओ, आचार के प्रति जागरूक करो। नए श्रावक तैयार करो। विशेषतः पुत्रियों और पुत्र-वधुओं को संयम के संस्कार दो। उनको संस्कारित करने का अर्थ है पूरे परिवार को संस्कारित करना। हम यह आलोचना करें—कहीं इसमें प्रमाद तो नहीं हो रहा है। इस प्रमाद का मिटना संघीय स्वास्थ्य के लिए संजीवनी बनता है।

ग्लान की सेवा

संघीय स्वास्थ्य के संदर्भ में महावीर का तीसरा निर्देश है—जो रोगी हैं, ग्लान हैं, उनकी अग्लान भाव से सेवा करने के लिए जागरूक रहो। भगवान् महावीर ने सेवा को महान् धर्म कहा। यह संघीय स्वास्थ्य की दृष्टि सबसे शक्तिशाली निर्देश है। जिस संघ में रोगी साधु-साध्वियों की सेवा नहीं होती, उसे संघ कहने में भी संकोच होता है। सघ वह है, जहाँ असमर्थ बीमार, कमजोर, मन और भावना से रुग्ण व्यक्तियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा की जाती है। यह निर्देश संघ की सुरक्षा, अखण्डता और गति-शीलता का आश्वासन बनता है।

शान्त सहवास

संघीय स्वास्थ्य के संदर्भ में महावीर का चौथा निर्देश है—साधर्मिकों में किसी कारण से कोई कलह उत्पन्न हो जाए तो अनिश्चित, मध्यस्थ और अपक्षपातपूर्ण भाव से उसका उपशमन करने के लिए जागरूक रहो। (वही संघ विकास करता है, जिसमें कलह के अवसर कम आते हैं। जो कलह की परिस्थिति को मिटाने के लिए जागरूक रहते हैं, वे संघीय स्वास्थ्य को बल प्रदान करते हैं। जहां कलह नहीं होता, वहां शांतिपूर्ण सहवास पनपता है। शान्त सहवास व्यक्ति और संघ—दोनों के विकास को गति देता है।

महत्त्वपूर्ण सूत्र

महावीर के ये आठ निर्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—व्यक्तिगत स्वास्थ्य और संघीय स्वास्थ्य के संदर्भ में।

तपस्या का आचरण, ध्यान, स्वाध्याय, तत्त्व-संग्रह, आत्म निरीक्षण—ये व्यक्ति से जुड़ी हुई प्रवृत्तियां हैं।

सेवा, श्रम, यात्रा, क्षेत्रों की देखभाल, शिष्यों का संग्रह—ये संघ से जुड़ी हुई प्रवृत्तियां हैं।

तपसश्चरणं ध्यानं, स्वाध्यायस्तत्त्वसंग्रहः ।

निरीक्षा स्वात्मनश्चैता, व्यक्तिवृत्ता प्रवृत्तयः ॥

सेवा श्रमस्तथा यात्रा, क्षेत्राणां पर्यवेक्षणम् ।

लोकानां संग्रहश्चैताः, संघवृत्ता प्रवृत्तयः ॥

यदि इन आठ निर्देशों के आधार पर हम अपनी जीवन-यात्रा को चलाएं तो अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण होगा, साथ-साथ संगठन और संघ का आरोग्य बढ़ेगा। ये निर्देश एक परिवार के स्वास्थ्य के लिए भी बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि हम इनका पालन करें तो व्यक्ति और समाज—सबका भला होगा। हम अपने दायित्व और उत्तरदायित्व की भावना को समझें। यह हमारा सांस्कृतिक दायित्व भी है। इसका अनुपालन हमारी कर्तव्यनिष्ठा को नए आयाम देगा।

रोगोत्पत्ति के नौ कारण

मनुष्य ने पवित्र अभ्यर्थना की—मुझे आरोग्य मिले, बोधि और समाधि मिले। प्रत्येक व्यक्ति को यह त्रिपदी चाहिए—आरोग्य, बोधि और समाधि। इसके सिवाय कुछ नहीं चाहिए। दुनिया में जो सारभूत है, वह इस त्रिपदी में समाहित है। आरोग्य बहुत आवश्यक है। रोग के तीन प्रकार हैं—शारीरिक, मानसिक और उमय। शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और शरीर तथा मन—दोनों की बीमारी। आज की भाषा में इसे मनोकायिक बीमारी कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है—इन रोगों से मुक्ति मिले। इसका कारण है—हमारी शिक्षा में जो बाधक तत्त्व हैं, उनमें एक है रोग। जब तक रोग है, तब तक शिक्षा भी प्राप्त नहीं हो सकती इसलिए स्वस्थ रहना एक अनिवार्य शर्त मानी गई है।

क्यों होता है रोग

प्रश्न है—रोग होता क्यों है? स्थानांग सूत्र में रोग के नौ कारण बतलाए गए हैं। उन नौ कारणों को रोग की सामग्री भी कहा जा सकता है। आयुर्वेद के अनुसार रोग के तीन कारण माने जाते हैं—वात, पित्त और कफ। इन दोषों का वैषम्य होना रोग है। इन तीनों में कहीं कोई गड़बड़ी पैदा होती है तो रोग पैदा हो जाता है। ऐलोपैथी का सिद्धांत है कि जर्म्स या वायरस रोग का कारण बनता है। होम्योपैथ यह नहीं मानता कि इन जीवाणुओं या जीवाणुओं से रोग पैदा होता है। उसका मानना है—बीमारी का कारण है प्राणशक्ति में गड़बड़ी होना और वह कारण बहुत गहरे में, अवचेतन में बैठा हुआ है। जब प्राणशक्ति का असंतुलन होता है, बीमारी पैदा हो जाती है। आयुर्वेद में रोग को कर्मज भी माना गया है। कृत-कर्म का विपाक जाता है और व्यक्ति बीमार हो जाता है। बहुत लोग ऐसे होते हैं, जो दुनिया भर में निदान करा लेते हैं पर रोग का पता नहीं चलता। उसका इलाज भी संभव नहीं बनता। यह रोग कर्म-जनित होता है। प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत है—विजातीय द्रव्यों का संग्रह बीमारी का कारण है। जब शरीर में विजातीय द्रव्य इकट्ठे हो जाते हैं, बीमारी पैदा हो जाती है।

रोगोत्पत्ति : नौ कारण

ये अनेक चिकित्सा की पद्धतियां हैं और इनके द्वारा प्रतिपादित

रोगोत्पत्ति के कारण अलग-अलग हैं। स्थानांग सूत्र में जो रोगों के कारण बतलाए गए हैं, उनका बीमारी से सीधा संबंध नहीं है। त्रिदोषों में गड़बड़ी क्यों होती है? प्राणशक्ति कमजोर क्यों होती है? स्थानांग सूत्र में इनके हेतु बतलाए गए हैं। हमारी सावधानी या जागरूकता यह रहे—त्रिदोष को कुपित होने का अवसर न मिले। जीवाणु या कीटाणु को आक्रमण करने का अवसर न मिले। हमारी प्राणशक्ति कमजोर न बने। शरीर में विजातीय तत्त्वों का संचय न होने पाए। इस जागरूकता से जुड़े नौ सूत्र हैं :^१—

१. निरन्तर बैठे रहना या अति भोजन करना।
२. अहितकर आसन पर बैठना या अहितकर भोजन करना।
३. अति निद्रा।
४. अति जागरण।
५. उच्चार (मल) का निरोध।
६. प्रस्रवण का निरोध।
७. पंथगमन।
८. भोजन की प्रतिकूलता।
९. इन्द्रियार्थ विकोपन—कामविकार।

सुखासिका

बीमारी का पहला हेतु है अत्यासन या अत्यशन। बहुत लंबा बैठना, बहुत लंबे समय तक एक आसन पर बैठे रहना, बीमार होने का एक हेतु है। पांच-छह घंटे एक स्थान पर बैठे रहना दोषों को कुपित करने का बड़ा कारण है। सूगर की बीमारी का मूल कारण माना गया है सुखासिका। सुख से बैठे रहना, न घूमना, न टहलना, न आसन और न व्यायाम करना। भोजन करना और भोजन करते ही लेट जाना। यह अत्यासन बीमारी का प्रमुख कारण है। इसका दूसरा विकल्प है अत्यशन—बहुत ज्यादा खाना। यह भी रोग का हेतु बनता है।

अहितकर भोजन

बीमारी का दूसरा कारण है अहितकर भोजन करना। पोषणशास्त्र में तीन शब्द प्रचलित हैं—पोषण, अपोषण और कुपोषण। हितकर भोजन न मिले तो बीमारी की संभावना बन जाती है। विरुद्ध भोजन भी बीमारी का हेतु बन जाता है। करेला खाया, ऊपर दूध पी लिया। खरबूजा और ककड़ी खाई, ऊपर दूध पी लिया। यह विरुद्ध भोजन है। इसे अहितकर भोजन माना जाता है। आज हितकर भोजन की तालिका बहुत लंबी हो चुकी है। स्टार्च और प्रोटीन एक साथ नहीं खाने चाहिए। इतना ध्यान हम रख सकें

या नहीं पर कम से कम स्वास्थ्य के लिए कुपोषण से बचना चाहिए ।

अतिनिद्रा

बीमारी का तीसरा कारण है ज्यादा नींद लेना । स्वास्थ्य चाहने वाले व्यक्ति को पांच-छह घंटे से ज्यादा नींद नहीं लेनी चाहिए । आयुर्वेद में ज्यादा नींद को बीमारी का कारण माना गया है । दिन में न सोना, यह केवल आगमिक मर्यादा ही नहीं है, आयुर्वेद की मर्यादा भी है । दिन में कुछ देर के लिए विश्राम करना अलग बात है, पर नींद लेना बीमारी को निमंत्रण देना है ।

अतिजागरण

बीमारी का चौथा कारण है—अतिजागरण । बहुत जागना भी बीमारी का कारण है । यदि दो चार दिन नींद न आए तो आदमी बीमार हो जाएगा । अतिनिद्रा और अतिजागरण—स्वास्थ्य के लिए इन दोनों से बचना अपेक्षित है ।

मल-मूत्र का निरोध

पांचवा कारण है—उच्चार का निरोध । छठा कारण है—प्रस्रवण का निरोध । यह बहुत ध्यान देने योग्य बात है । मल-मूत्र के वेग को रोकना स्वास्थ्य के लिए अहितकर है । इससे अनेक बीमारियां पैदा हो सकती हैं । वायु की व्याधि, मस्तिष्कीय बीमारी आदि का यह मुख्य हेतु है । बच्चा और पशु कभी मल-मूत्र के वेग को नहीं रोकता । मनुष्य समझदार है । उसे कभी कभी इस वेग को रोकना पड़ता है किन्तु यह है बीमारी का कारण । हम इस तथ्य पर ध्यान दें—मानस वेगों को न रोके तो बीमारी हो जाती है है और शारीरिक वेगों को रोकने पर बीमारी हो जाती है । काम, क्रोध, भय आदि को न रोकना बीमार होना है और मल-मूत्र आदि को रोकना बीमार होना है ।

पंथगमन

बीमारी का सातवां कारण है—पंथगमन । कहा गया—नस्थि जरा पंथसमा—रास्ते में चलने के समान बुढ़ापा नहीं है । हम इसका हृदय समझें । चलना भी बहुत जरूरी है । चलना बीमारी का कारण है तो न चलना भी बीमारी का कारण है । एक स्वस्थ आदमी के लिए पांच दस किलोमीटर घूमना बहुत हितकर होता है । जो लोग आसन-व्यायाम नहीं कर सकते, उनके लिए टहलना बहुत जरूरी है । शरीर के ऐसे अनेक अवयव हैं, जिनकी स्वस्थता के लिए टहलना जरूरी है । शरीर को आवश्यक श्रम देना, रक्त

पहुंचाना बहुत आवश्यक माना गया है। जो बैठा रहता है, वह शरीर को बिगाड़ने वाला होता है। प्रत्येक कोशिका को ऊर्जा चाहिए। वह ऊर्जा श्रम के द्वारा ही मिलेगी। कायोत्सर्ग एक ऐसा विकल्प है, जिसमें रक्त संचार को अच्छा अवसर मिलता है। हम पांच छह घंटा कायोत्सर्ग करें या एक-दो घंटा शरीर को श्रम दें। परिभ्रमण, आसन, कायोत्सर्ग—ये अच्छे साधन हैं। शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए इनमें से किसी एक का चुनाव करना जरूरी है। पंथ यात्रा का मतलब है बहुत ज्यादा चलना। दस बारह किलोमीटर से अधिक चलना हानिकारक है पर निरन्तर चलें तो यह बुरा नहीं है। साधु-साध्वियों के बीमारियां कम होती हैं। इसका कारण है आहार, विहार और गोचरी। इनसे शरीर को पर्याप्त श्रम मिल जाता है और बीमारी से बचाव हो जाता है।

भोजन की प्रतिकूलता

बीमारी का आठवां कारण है—भोजन की प्रतिकूलता। अनुकूल भोजन नहीं मिलता है तो बीमारी पैदा हो जाती है। संतुलित भोजन वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यदि पोषण ठीक मिलता है तो स्वास्थ्य ठीक रहता है। (स्वास्थ्य के लिए भोजन का विवेक आवश्यक है। यदि भोजन का उचित विवेक हो तो अनेक बीमारियों से बचा जा सकता है।

इन्द्रियार्थं विकोपन

बीमारी का नौवां कारण है—इन्द्रियार्थं विकोपन। यह भावनात्मक बीमारी है। शारीरिक और मानसिक—दोनों बीमारियों को पैदा करती है। काम, क्रोध, भय, लोभ—ये सब इन्द्रियों को कुपित करने वाले हैं, मानसिक और शारीरिक बीमारियों को पैदा करने वाले हैं। आयुर्वेद का एक संदर्भ है—लोभ हार्ट की बीमारी का मूल हेतु है—लोभं हृदयबौबल्यकारकम्। ये भावात्मक उद्वेग अनेक समस्याओं के जनक हैं।

आरोग्य का रहस्य

हम इन नौ कारणों का स्वास्थ्य के संदर्भ में वर्गीकरण करें। एक कारण है आराम से संबंधित। ज्यादा आराम नहीं करना चाहिए। 'आराम हराम है' यह विकास और प्रगति का ही नहीं, स्वास्थ्य का भी सूत्र है। स्वास्थ्य का दूसरा सूत्र है—भाजन के बारे में जागरूक होना। कुपोषण न हो, भोजन की प्रतिकूलता न हो। स्वास्थ्य का तीसरा सूत्र है—नींद और जागरण का विवेक। स्वास्थ्य का एक सूत्र है—विजातीय का संग्रह न हो। शरीर के भीतर एसिड जमा होता चला जाता है। वह रक्त की गति को

बाधित कर देता है । आसन करने से बहुत सारे विजातीय तत्त्व दूर हो जाते हैं । स्वास्थ्य का एक सूत्र है—न श्रम की अति हो और न विश्राम की अति । एक शब्द में कहा जा सकता है—आरोग्य का सूत्र है संतुलित जीवन जीना और बीमारी का कारण है असंतुलित जीवन जीना । सबसे ज्यादा संतुलन रखना है भावनाओं का । भावात्मक संतुलन, मानसिक संतुलन और शारीरिक संतुलन—यह आरोग्य का रहस्य है । इस रहस्य की उपलब्धि आरोग्य की उपलब्धि है ।

सत्य के दस प्रकार

‘सत्य क्या है?’ यह बहुत उलझन भरा प्रश्न है। जब-जब उलझन होती है तब तब गुरु की शरण में जाना होता है। गुरु वही है जो उलझन को सुलझा दे, समस्या को समाधान दे। शिष्य ने निवेदन किया—गुरुदेव ! सत्य सुनते-सुनते कान थक गए हैं। आखिर सत्य है क्या? मैं उसे अभी समझ नहीं पा रहा हूँ। उसका मूल क्या है?

आचार्य ने कहा—सत्य बहुत व्यापक शब्द है। वह हमारे लिए क्यों जरूरी है? उसका हृदय क्या है? इसे समझो। सत्य का स्वरूप यह है—

अस्ति यद् वाग्गतं सत्यं, तत् सापेक्षमुदीरितम् ।

वाचा यत् प्रतिपाद्यं स्यात्, निरपेक्षं भवेन्न तत् ।।

जो वाग्गत सत्य है, वह सापेक्ष है। वाणी के द्वारा प्रतिपादित सत्य निरपेक्ष नहीं हो सकता।

सत् : सत्य

आचार्य ने बहुत सुन्दर समाधान दिया है। एक होता है अर्थ और एक होता है शब्द। एक ‘घड़ा’ पदार्थ है और एक ‘घड़ा’ शब्द। वह घड़ा पदार्थ है, जिसमें पानी रहता है। घड़ा शब्द और घड़ा अर्थ—ये दो हैं। जो पदार्थ है, वह सत्य है। जो जीव है, पुद्गल है, वह न सत्य है और न असत्य। वह सत् है। इस दुनिया में जो अस्तित्व है, सत्ता है, वह सत् है। वही सत् जब वाणी का विषय बनता है तब सत्य बन जाता है। ‘घट’ पदार्थ ‘घट’ शब्द—यह सत्य बन गया। घड़े को घड़ा शब्द बता रहा है इसलिए घड़ा सत्य है। डायरी को हम घड़ा कह दें तो असत्य हो जाएगा। घड़े का घड़ा कहना सत्य है किन्तु डायरी को घड़ा कहना सच नहीं है। जो अर्थ है, उसको वही बता रहा है तो वह सत्य है। जो अर्थ है, उसका वाचक जो शब्द नहीं है, वह असत्य है।

सापेक्ष है सत्य

सत्य बनता है वाणी के साथ जुड़कर। शब्द के साथ अर्थ जुड़ा और सत्य बन गया। जो हम संकेत कर देते हैं, वही उसका अर्थ हो जाता है।

वस्तु और शब्द—दोनों जुड़ जाते हैं। जोड़ने वाली शक्ति है स्वाभाविक। सामर्थ्य और समय से जो अर्थ-बोध कराता है, वह है शब्द।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां अर्थबोधनिबंधनं शब्दः।

समय होता है संकेत। घड़ा घट शब्द से जुड़ गया किन्तु वह सापेक्ष है। पूछा गया—अगर संकेत शब्दगत हो गया तो वह सत्य होगा? कहा गया—सत्य हमेशा सापेक्ष होगा। वाणीगत जो सत्य है, वह निरपेक्ष नहीं होता। वस्तु अपने स्वरूप में निरपेक्ष है। जहाँ शब्द से जुड़ेगी वहाँ सापेक्ष हो जाएगी।

सत्य : दस प्रकार

इस सापेक्षता को समझाने के लिए अनेक उदाहरण दिए गए हैं। स्थानांग सूत्र में उनको दस भागों में विभक्त किया गया है—

- | | |
|-----------------|------------------|
| १. जनपद सत्य | ६. प्रतीत्य सत्य |
| २. सम्मत सत्य | ७. व्यवहार सत्य |
| ३. स्थापना सत्य | ८. भाव सत्य |
| ४. नाम सत्य | ९. योग सत्य |
| ५. रूप सत्य | १०. औपम्य सत्य |
- ये सब वाणीगत सत्य के प्रकार हैं।'

जनपद सत्य

पहला है जनपद सत्य। एक व्यक्ति ने कहा—यह पानी है। दूसरा बोला—गलत है, यह वाटर है। एक व्यक्ति बोला—वह बुक लाओ। उसने कहा—क्या किताब लाऊँ? इस बात को लेकर झगड़ा हो गया क्योंकि उसने समझा नहीं—यह जनपद सत्य है। जनपद में अलग-अलग भाषा के अलग शब्द होते हैं। यदि आदमी निरपेक्षता से सुन लेता है तो बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। कोई शब्द राजस्थान में अच्छा माना जाता है पर किसी प्रांत में उसे बुरा भी माना जाता है। जो अपने जनपद की भाषा से जुड़ा है, वह जनपद सत्य है।

सम्मत सत्य

दूसरा है सम्मत सत्य। काव्यानुशासन का एक नियम है—जहाँ भी पानी है वहाँ कमल का वर्णन कर देना चाहिए। समुद्र में भी कमल का वर्णन किया गया। क्या समुद्र में कमल होता है? समुद्र में कमल नहीं होता

१. ठाणं १०८९

जणवय सम्मय ठवणा, णामे रुवे पडुच्च सच्चे य।

ववहार भाव जोगे, बसमे ओपम्म सच्चे य ॥

पर काव्य में उसका निरूपण कर दिया गया। कहा गया—यह कवि-समय है, कवि-सम्मत सत्य है, इसीलिए काव्य को कभी भूठा नहीं कहा जा सकता।

सत्य है ऋजुता

जैसे जनपद सत्य होता है वैसे ही सम्मत सत्य होता है। जिस विधा में जो बात मान ली गई, वह सत्य की परिधि में आ गई। वस्तुतः असत्य होता है प्रवचन में। जहां माया है, ठगने की मनोवृत्ति है, वहां असत्य बनता है। सत्य की परिभाषा की गई—ऋजुता सत्य है। जो काया की ऋजुता है, भाषा और मन की ऋजुता है, वह सत्य है। यदि ऋजुता को सत्य नहीं मानते तो सारा भूठ हो जाता किन्तु ऋजुता को सत्य माना गया है। जहां कोई कुटिलता नहीं है वहां सत्य जनपद है इसीलिए सत्य को सापेक्ष माना गया। सारे भगड़े होते हैं निरपेक्षता के कारण। हम सापेक्ष सत्य का अनुभव नहीं करते इसीलिए समस्या उलझ जाती है। सापेक्षता के आधार पर सत्य को समझा जा सकता है, यह बात समझ में आए तो समस्या ही पैदा न हो।

महावीर का कथन

भगवान महावीर ने कहा—तुम पहले यह समझो—वह जो बोल रहा है, किस प्रांत की भाषा बोल रहा है? कहां और कैसे बोल रहा है? पहले वाणी को समझो। सीधे लड़ाई-झगड़े में मत जाओ। कुछ सोचो, समझो। अलग-अलग भाषा और मुहावरे हैं। तुम जनपद की अपेक्षा से सचाई को समझो।

सम्मत सचाई के संदर्भ में भी यही बात है। तेरापंथ में एक आचार्य की परम्परा है। एक आचार्य का आदेश सर्वोपरि है, वह सम्मत है। सापेक्ष और सम्मत के आधार पर उस सचाई को समझने का प्रयत्न होना चाहिए।

स्थापना सत्य

तीसरा है स्थापना सत्य। कोई भी स्थापना कर दी गई, वह स्थापना सत्य है। एक बच्चा घोड़ा बन गया। दूसरा बच्चा उस पर चढ़ा हुआ है। एक काठ का घोड़ा बना दिया गया। बच्चा उसे चला रहा है। उससे पूछा गया—ब्या कर रहे हो? उसका उत्तर होगा—घोड़ा चला रहा हूँ। यह असत्य नहीं है, स्थापना सत्य है। जो प्रतिमा है, वह भी स्थापना सत्य है। इस सत्य को हम भूठलाएंगे नहीं, लेकिन यह सापेक्ष है।

नाम सत्य

चौथा है नाम सत्य। एक व्यक्ति का नाम रखा गया—

लक्ष्मीपति । उसके पास लक्ष्मी कुछ भी नहीं है फिर भी वह नाम सत्य है । उसे लक्ष्मीपति ही कहा जाएगा, चाहे वह फकीर ही क्यों न हो । यह सापेक्ष सत्य है नाम के कारण ।

रूप सत्य

पांचवां है रूप सत्य । सत्य आकारगत और वाक्गत भी होता है । नाम और रूप—इन दोनों से सत्य जुड़ जाता है । एक पुरुष है । वह स्त्री वेश में आया । आदमी उसे स्त्री कह देता है । यह रूप की सापेक्षता है । वर्तमान वेश के आधार पर उसका वैसा संबोधन कर देना, यह रूप सत्य है ।

प्रतीत्य सत्य

छठा है प्रतीत्य सत्य । यह भी सापेक्ष है । एक अध्यापक ने लकीर खींचकर विद्यार्थी से कहा—इस रेखा को छोटी करो पर मिटाना नहीं है । विद्यार्थी बुद्धिमान् था । उसने उस रेखा के पास बड़ी रेखा खींच दी । रेखा छोटी हो गई । यह प्रतीत्य सत्य है । बौद्ध धर्म ने प्रतीत्य समुत्पाद का पूरा सिद्धांत गढ़ लिया । उत्पाद प्रतीत्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं होता ।

व्यवहार सत्य

सातवां है व्यवहार सत्य । व्यक्ति कहता है—पहाड़ जल रहा है, गांव आ रहा है । जल रही है आग पर कहा जाता है—पहाड़ जल रहा है । व्यक्ति स्वयं चल रहा है पर कहा जाता है—गांव आ रहा है । गांव स्थिर है पर उसे गतिशील कह दिया जाता है । यह है व्यवहार सत्य । जब हम निश्चय में जाते हैं तब सारी स्थितियां बदल जाती हैं । निश्चय की भाषा है—अग्नि पलाल को जलाती ही नहीं है, घड़ा फूटता ही नहीं है । ये बहुत गहरी बातें हैं । हम निश्चय में जाते हैं तब हमारा स्वर होता है—पलाल जब तक पलाल की पर्याय में है तब तक वह कभी जलेगा ही नहीं । जो फूटता है, वह घट नहीं है । यह निश्चय का सत्य है । व्यवहार का सत्य है—एक स्थूल आधार पर वस्तु का निर्णय कर देना ।

भाव सत्य

आठवां है भाव सत्य । दूध सफेद होता है । क्या वह सफेद ही है ? रंग विज्ञान की भाषा में सोचें तो सफेद का मतलब है सभी रंगों का मिश्रण । व्यक्त पर्याय के आधार पर किसी वस्तु का प्रतिपादन कर देना, यह है भाव सत्य । पर्याय दो प्रकार के होते हैं व्यक्त और अव्यक्त । हम अव्यक्त पर्यायों की उपेक्षा कर देते हैं । जो सामने दीख रहा है, उसी के आधार पर उसका निरूपण कर देते हैं । यह सापेक्ष सत्य है, निरपेक्ष नहीं हो सकता । भाव सत्य का तात्पर्य है—व्यक्त पर्याय के आधार पर किसी वस्तु का निरूपण

करना। भंवरा काला ही नहीं होता, उसमें पांचों वर्ण होते हैं पर उसे काला ही कहा जाता है।

योग सत्य

नौवां है योग सत्य। दस व्यक्ति जा रहे हैं। किसी संबन्ध के कारण किसी व्यक्ति को यह कहकर बुलाया गया—ओ टोपीवाले ! इधर आओ। इस आवाज को सुनकर कौन आएगा ? जो टोपी वाला है, बही आएगा। शेष नौ नहीं आएंगे। यह होता है योग सत्य—किसी विशेष चिह्न के आधार पर कुछ कहना।

औपम्य सत्य

दसवां है औपम्य सत्य—उपमा के द्वारा किसी बात को कहना। साहित्य में उपमाएं मरी हैं। आज का साहित्य प्रतीकात्मक हो गया है। आज के प्रतिमान कुछ बदल गए हैं किन्तु पुराने प्रतिमानों में उपमा के लिए बहुत बड़ा स्थान था। संस्कृत और प्राकृत साहित्य में हजारों-हजारों उपमाएं प्रयुक्त हुई हैं। रूपक और उपमा का व्यापक प्रयोग देखा जा सकता है। रूपक के द्वारा तादात्म्य बतलाया गया और उपमा के द्वारा सादृश्य। प्रश्न उभरा—मुख कैसा है ? कहा गया—चन्द्रमा जैसा। आंख कैसी है ? वह कमल जैसी है। चरण कमल, हस्त-कमल, नयन-कमल आदि-आदि प्रयोग इसके निदर्शन हैं। आचार्य भिक्षु ने भी उपमाओं का बहुत प्रयोग किया है। अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा—‘क्रोधी व्यक्ति ऐसे उछलता है जैसे भाड़ में से चना उछलता है।’ औपम्य सत्य का तात्पर्य है—उपमा के द्वारा किसी वस्तु या सचाई का प्रतिपादन करना।

ग्राह्य है सापेक्षवाद

सत्य के ये दस विकल्प हैं। इन विकल्पों में सत्य को इतना व्यापक रूप दिया गया है कि सहसा किसी बात को भूठ कह देना उचित नहीं है। हम प्रत्येक कथन पर सोचें—किस अपेक्षा से यह सत्य हो सकता है ? यदि सत्य के प्रति इतना व्यापक दृष्टिकोण नहीं होता है तो कलह, भगड़े, विवाद—सब पैदा हो जाते हैं। सत्य की इस व्यापकता में विवाद को बहुत कम अवकाश रहता है। भगवान् महावीर का अनेकांतवाद या सापेक्षवाद का जो दृष्टिकोण है, वह सत्य के प्रति इतना विनम्र है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्राह्य बन सकता है।

महावीर ने कहा—‘तुम भाषा के द्वारा निरपेक्ष सचाई की बात करते हो, पर यह संभव नहीं है। वस्तु अनन्तधर्मा है। तुम उसके एक धर्म को पकड़कर समग्रता की बात करते हो, उसे पूरा बतलाने का प्रयत्न करते हो, यह कैसे संभव है ? भाषा में यह ताकत ही नहीं है कि वह पूरी बात कह

सके । भाषा अधूरी बात ही कहेगी । तुम उसे पूर्ण मानकर आग्रही बन जाते हो और इस स्थिति में ही समस्या उलझ जाती है ।’

व्यापक दृष्टिकोण

एक व्यापक दृष्टिकोण दिया गया कि दस प्रकार का सत्य होता है—**दसविहे सच्चे पणत्ते** । यदि इस तथ्य को ठीक हृदयंगम किया जाए तो ऋजुता आती है, सत्य के प्रति विनम्रता आती है, एक व्यापक सत्य को समझने का मौका मिलता है । यह सचाई भी समझ में आ जाती है—अर्थ की गहराई को भाषा या शब्द कभी नाप नहीं सकता । पनडुब्बी समुद्र के तल तक जा सकती है पर क्या एक छोटी-सी डोंगी तल तक जा सकेगी ? वह कभी नहीं जा पाएगी । भाषा की क्षमता, सत्य की अनन्तता और गहराई—इनमें सापेक्ष सम्बन्ध है । इस दार्शनिक पहलू को ठीक समझ कर ही हम सत्य के प्रति न्याय कर सकते हैं और स्वयं अपने प्रति भी सच्चे रह सकते हैं ।

सुख के दस प्रकार

जितने आदमी उतनी ही अनुभूतियां। अनुभूति से परे सुख का कोई अस्तित्व नहीं है। 'अमुक वस्तु में सुख है' यह केवल आरोपण, कल्पना या भ्रम है। सुख का एक मात्र साधन है हमारी अपनी अनुभूति। अनुभूति है, संवेदन है तो सुख है। यदि ये नहीं हैं तो कुछ भी मिल जाए, सुख नहीं होगा। आदमी सो रहा है, सुख का अनुभव नहीं हो रहा है। वह एकांत में बैठा है, उसे सुख नहीं मिल रहा है। जैसे ही कोई वस्तु सामने आई, उस ओर ध्यान गया, संवेदन जगा और सुख होने लगा। सुख है एक योग, एक अनुभूति। वस्तु के साथ शारीरिक विद्युत् और प्राणशक्ति का योग मिलता है तो सुख का प्रारम्भ हो जाता है। फिर भी आरोपण, उपादान और निमित्त कारण के आधार पर सुख के अनेक विकल्प किए गए हैं। यह जैन दर्शन और अनेकांत की अपनी विशेषता है कि पौद्गलिक वस्तु के त्याग को महत्त्व देते हुए भी उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया। जैन दार्शनिक आदिमक सुख को मूल्य देते हैं पर पौद्गलिक सुख का भी अस्वीकार नहीं करते। सुख के वर्गीकरण में उन्हें भी स्थान दिया गया है।

सुख के दस प्रकार

स्थानांग सूत्र में सुख के दस प्रकार बतलाए गए हैं—

१. आरोग्य
२. दीर्घ आयुष्य
३. आढ्यता—धन की प्रचुरता
४. काम—शब्द और रूप की उपलब्धि
५. भोग—गंध, रस और स्पर्श की उपलब्धि
६. संतोष—अल्प इच्छा
७. अस्ति—जब-जब जो प्रयोजन होता है तब-तब उसकी पूर्ति हो जाना।
८. शुभयोग—रमणीय विषयों का योग होना।
९. निष्क्रमण—प्रव्रज्या ग्रहण करना।

१०. अनाबाध—जन्म आदि की बाधाओं से रहित सुख का होना, आत्मिक सुख की प्राप्ति ।

आरोग्य

पहला सुख है—आरोग्य । राजस्थान की प्रसिद्ध कहावत है—‘पहला सुख निरोगी काया ।’ शरीर स्वस्थ है तो सुख है । शरीर स्वस्थ नहीं है तो सुख भी गायब हो जाता है । शरीर के आधार पर ही किसी सुख की उपलब्धि की जा सकती है । शरीर का आरोग्य होता है तभी व्यक्ति कुछ कर पाता है । अस्वस्थ शरीर एक बाधा बन जाता है इसीलिए शरीर के आरोग्य को सुख माना गया है ।

दीर्घ आयुष्य

दूसरा सुख है—दीर्घायु । आदमी ज्योतिषी को अपनी कुण्डली दिखाता है । वह यह जानना चाहता है—मेरी आयु कितनी है ? प्रत्येक व्यक्ति लम्बी आयु चाहता है । वह जल्दी मरना नहीं चाहता । कर्म-शास्त्र में अल्पायु बंध को अशुभ कर्म का विपाक माना गया है । गरीब हो या मिखारी—कोई मृत्यु नहीं चाहता । दीर्घ-आयुष्य का होना अपने आप में एक सुख है ।

आढ्यता

तीसरा सुख है—धनाढ्य होना । प्रश्न हो सकता है—धन संपन्न होना सुख कैसे है ? क्या धनवान लोग हीरे-पन्ने या सोने-चांदी को खाते हैं ? वे भी अनाज ही खाते हैं, किन्तु उन्हें यह अनुभूति रहती है—मेरे पास इतना धन है । यह अनुभव उन्हें सुख देता है । मैं आढ्य हूँ, मैं धनवान हूँ, मेरे पास विशाल संपदा है, यह चित्तन सुख प्रदान करता है ।

काम और भोग

चौथा और पांचवां सुख है—काम और भोग की उपलब्धि । काम और भोग भी व्यक्ति को सुख देते हैं । शब्द को सुनने और रूप को देखने से जो सुख मिलता है, वह काम है । स्पर्श या रस से जो सुख मिलता है, वह भोग है । व्यक्ति की कामनाएं पूरी होती हैं, वह भोग भी करता है । उससे उसे सुख मिलता है ।

संतोष

छठा सुख है—संतोष । संतोष भी सुख है, यह बात सुनने में अटपटी लगती है । क्या संतोष भी कोई सुख है ? यह समझ से परे की बात प्रतीत होती है, किन्तु जिन लोगों ने संतोष के सुख का अनुभव किया, उन्होंने लिखा—मेरे बेटे को और बातें सिखाना, पर साथ में यह भी सिखाना कि संतोष

सबसे बड़ा सुख है। व्यक्ति कितना ही धनवान् है, यदि संतोष का सुख नहीं है तो वह सुखी नहीं हो सकता। एक धनी विचारक ने लिखा—‘दुनिया में वे सुखी हैं, जो अपने कानों से भीतर की आवाज सुनते हैं। वे सुखी हैं, जो अपनी आंखों से भीतर की घटना देखते हैं। जिनकी आंखें बन्द है भीतर को देखने के लिए, जिनके कान बंद हैं अपनी आवाज सुनने के लिए और जो आदमी बांखों से बाहर ही बाहर देखते रहते हैं, बाहर की आवाज सुनते रहते हैं, वे सुखी कैसे हो सकते हैं? मैंने कभी ऐसे सुख का अनुभव नहीं किया, इसलिए मैं अपने सुख का अनुभव बताना चाहता हूँ—बांखों को बंद करो, कानो को बंद करो, भीतर को देखो, भीतर की आवाज सुनो। वह सुख मिलेगा, जो कभी नहीं मिलता। वह है संतोष का सुख।’

सुख का सूत्र : सीमाकरण

आदमी को कहीं न कहीं कुछ फुलस्टॉप लगाना पड़ता है। आदमी खाता है, फिर विराम दे देता है। पानी पीता है तो विराम दे देता है। क्या इच्छा को विराम देना जरूरी नहीं है? संतोष का एक अर्थ है सीमाकरण। सीमा करो, असीम मत बनो। यह सीमाकरण सुखी होने का सूत्र है। आज की समस्या यही है—व्यक्ति सीमाकरण करना नहीं जानता। आचार्य श्री बम्बई में प्रवास कर रहे थे। जयप्रकाश नारायण का एक प्रस्ताव था—विशिष्ट अणुव्रती के पास पूंजी कितनी होनी चाहिए? प्रस्ताव आया—एक लाख की सीमा होनी चाहिए। यह सीमाकरण की बात साम्यवाद में भी हुई—व्यक्तिगत संपत्ति की सीमा होनी चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र में सीमा का अनुभव किया गया। यह सीमाकरण वास्तव में संतोष है। यदि एक आदमी सुबह से शाम तक खाता चला जाए, सीमा न करे तो क्या परिणाम आएगा? विराम देना जरूरी है इसीलिए यह सूत्र दिया गया—संतोष अपने आप में सुख है।

अस्ति

सातवां सुख है—अस्ति। यह विचित्र सुख है। ‘है’ यही सुख है। चाहे भौतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से, व्यावहारिक या नैश्चयिक दृष्टि से, ‘अस्ति’ ‘है’ इससे बड़ा कोई सुख नहीं है। जहां ‘हूँ’ हुआ, वहां सुख नहीं है। सुख है ‘है’ में। अस्तित्व में न कोई वचन होता है, न कोई लिंग। उसमें केवल व्यक्तित्व होता है। अस्तित्व की अनुभूति में जहां केवल ‘है’ है, वहां सारे दुःख समाप्त हो जाते हैं। ‘मैं हूँ’ जहां यह अनुभूति है वहां दुःख आते रहते हैं। जहां ‘अस्ति’ की अनुभूति है, वहां सुख ही सुख है। इस सूत्र से दुःख और तथ्यों से छुटकारा मिल जाता है। जहां ‘हूँ’ जुड़ता है वहां कठिनाइयां पैदा होने लग जाती हैं। कर्तृत्व पर अहंकार छा जाता है।

जहां अहं आता है वहां स्थितियां बदल जाती हैं। 'अस्ति' की अनुभूति अहं-बिलय से सम्भव बनती है। इससे जो सुख मिलता है, वह अनिवंचनीय होता है।

शुभयोग

आठवां सुख है—शुभयोग—रमणीय पदार्थों का योग होना या भोग होना। आदमी ही नहीं, एक जानवर भी रमणीयता को खोजता रहता है। कहां अच्छा स्थान मिलेगा? कहां अच्छी घास मिलेगी? यह रमणीयता की खोज और उपलब्धि का हेतु बनती है।

पौद्गलिक सुख : आत्मिक सुख

जो सुख पदार्थ से जुड़े हैं, वे पौद्गलिक हैं। जो पौद्गलिक सुख हैं, वे सहेतुक और निमित्तक सुख हैं। एक सुख ऐसा है, जो अहेतुक है। उसके पीछे कोई हेतु नहीं है। वह है निष्क्रमण का सुख। यह त्याग का सुख है। कुछ व्यक्ति सहेतुक सुख में डूबे हुए हैं। वे पुद्गलों में सुख खोजते हैं। कुछ व्यक्ति निर्हेतुक सुख की खोज करते हैं। वह सुख आत्मभाव में प्रतिष्ठित है। कुछ व्यक्ति आहार में सुख मानते हैं और कुछ अनाहार में। कुछ भोग में सुख मानते हैं और कुछ त्याग में। यह सुख का नानात्व स्पष्ट है—

अनुभूतौ सुखं तस्य, हेतवः पुद्गला अमी।

सुखं निर्हेतुकं शश्वद्, आत्मभावे प्रतिष्ठितम् ॥

कस्यास्ति सुखमाहारे, परस्याऽभोजने सुखम्।

सुखस्य चास्ति नानात्वं, भोगे त्यागे तथैव च ॥

निष्क्रमण

नौवां सुख है—निष्क्रमण का सुख। गृहस्थवास को छोड़ना, प्रव्रज्या के लिए निष्क्रमण करना सुख है। यह किसी पौद्गलिक सुख की प्राप्ति के लिए नहीं है। व्यक्ति सब कुछ त्याग कर निकलता है। संयोग और संबंधों को छोड़ देता है, आजीविका को भी छोड़ देता है। केवल शरीर रहता है और वह भी साधना के लिए। इस निष्क्रमण को महान् सुख माना गया है। भगवान् महावीर ने कहा—जो निष्क्रमण का क्षण है, वह अप्रमाद का क्षण है। सातवां गुणस्थान आता है तब निष्क्रमण आता है। अप्रमाद से बड़ा सुख इस दुनिया में हो नहीं सकता। वह सुख निष्क्रमण से उपलब्ध होता है।

अनाबाध सुख

दसवां सुख है—अनाबाध सुख। यह है—वीतरागता का सुख या मोक्ष का सुख। हम नौ सुखों को एक कोटि में रख दें और वीतराग के सुख को एक कोटि में रख दें तो भी वीतराग का सुख भारी रहेगा। सबमें विघ्न आता है, अंतराय आता है। कभी सुख आता है, कभी दुःख आ जाता है।

अनाबाध सुख ऐसा है, जिसमें कोई बाधा नहीं आ सकती। वीतराग या आत्मा का सुख ही निर्बाध होता है। इसके सिवाय सारे सुखों के पीछे बाधा लगी हुई रहती है।

सत्य की खोज का उपदेश दिया गया। सत्य और अनाबाध सुख—दोनों का बिन्दु एक ही है। हम सत्य की खोज करें या अनाबाध सुख की खोज करें, दोनों एक हैं। अनाबाध सुख ऐसा शाश्वत सुख है, जिसे पाकर आदमी समग्र सचाई को उपलब्ध हो जाता है। 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' कहें या 'अप्पणा सोक्खमेसेज्जा'—दोनों की निष्पत्ति एक ही होगी। हम अनाबाध सुख की खोज के लिए प्रस्थान करें। वह हमारे लिए कल्याणकारी और आनंददायी होगा।

कल्याणकारी भविष्य का निर्माण

प्रत्येक आदमी कल्पना करता है—मेरा भविष्य उज्ज्वल बने। कोई भी धुंधले भविष्य को नहीं चाहता। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण होता है वर्तमान में। अतीत बीत चुका है। उसके लिए हमारे हाथ में कोई शक्ति नहीं है। उसका शोधन हो सकता है, किंतु निर्माण में उसका योग कैसे हो सकता है? नया निर्माण कोई करता है तो वह वर्तमान में ही होता है। वर्तमान में ही अतीत का शोधन होता है, वर्तमान में ही भविष्य का निर्माण होता है। वर्तमान को दोहरा दायित्व निभाना है। अतीत में जो भी किया, उसका अगर परिष्कार करना है तो केवल वर्तमान कर सकता है। कोई नया निर्माण करना है तो वह वर्तमान कर सकता है। इसीलिए वर्तमान को बहुत मूल्य दिया गया। भविष्य उज्ज्वल और पवित्र बने, इस विषय पर सोचा गया। ऐसा क्या हो सकता है, जिससे भविष्य अच्छा और सुखद बने, उसमें कठिनाइयां, संकट, विघ्न और बाधाएं न आएँ। प्रत्येक व्यक्ति ऐसा भविष्य चाहता है, जिसमें समस्याएं न हों।

चिन्ता भविष्य की

एक राज्य की परंपरा थी—राजा को एक निश्चित समय के बाद सिंहासन से उतार दिया जाता। उसे जंगल में छोड़ दिया जाता। जैसे जापान में बूढ़े मां-बाप को जंगल में छोड़ दिया जाता है वैसे ही राजा को एक निश्चित अवधि के बाद जंगल में छोड़ने की परंपरा रही है। राजा ने सोचा—वह दिन आने वाला है, जिस दिन मैं जंगल में छोड़ दिया जाऊंगा। वहां जंगली जानवरों के साथ जीवन बिताना होगा। भविष्य की चिन्ता प्रत्येक व्यक्ति को रहती है। आदमी भविष्य के लिए सोचता है, धन भी जमा करता है। वह सोचता है—यह बुढ़ापे में काम आएगा। प्रत्येक व्यक्ति भविष्य के बारे में अपनी व्यवस्था करता है। राजा ने भी सोचा। वह दृष्टि संपन्न था इसलिए उपाय खोज लिया। जंगल को नगर से भी ज्यादा सुखद बना दिया। जंगल में भी वे सारी व्यवस्थाएं जुटा दी, जो शहरों में होती हैं। एक नया नगर बन गया। जंगल सुखकर हो गया। जब निश्चित समय आया, राजा को जंगल में छोड़ा गया किन्तु उसके लिए वह जंगल नहीं था, एक भव्य नगर था।

दस सूत्र

जो कल्याणकारी भविष्य का निर्माण कर लेता है, वह कभी संकट में नहीं पड़ता। उसे कठिनाइयां नहीं भेलनी पड़ती।) भगवान् महावीर ने इस विषय पर महत्त्वपूर्ण दर्शन दिया—कल्याणकारी भविष्य का निर्माण करना है तो दस बातों पर ध्यान दो। यदि दस विशेषताएं हमारे जीवन में होती हैं तो कल्याणकारी भविष्य का निर्माण होता है—

१. अनिदानता — अनाकांक्षा
२. दृष्टिसंपन्नता — सम्यग् दृष्टि की आराधना।
३. योगवाहिता — समाधि पूर्ण जीवन।
४. क्षांतिक्षमणता — समर्थ होते हुए भी सहन करना।
५. जितेन्द्रियता — इन्द्रिय विजय।
६. ऋजुता — सरलता।
७. अपाश्वंस्थता — ज्ञान, दर्शन और आचार की शिथिलता न रखना।
८. सुश्रामण्य — पवित्र श्रामण्य का होना।
९. प्रवचन वत्सलता — आगम और शासन के प्रति प्रगाढ़ अनुराग।
१०. प्रवचन उद्भावनता — आगम और शासन की प्रभावना।

अनिदानता

पहला तत्त्व है अनिदानता—आकांक्षा न होना। कुछ पाने का संकल्प न होना, यह अनिदानता है। यह कल्याणकारी भविष्य के निर्माण का पहला सूत्र है। मनुष्य की यह प्रकृति है—वह श्रम करता है और कुछ पाने की आकांक्षा करता है। सच्चाई यह है—अनाकांक्ष होना आकांक्षा की पूर्ति का सबसे बड़ा साधन है। जो व्यक्ति आकांक्षा नहीं करता, उसे सब कुछ मिलता है। जब शक्ति आकांक्षा में उलझ जाएगी, तब मिलने की बात छोटी हो जाएगी।

बंधन है निदान

राजस्थानी का प्रसिद्ध दोहा है—

त्याग किया आवे तुरत, जे कोई वस्तु जरूर।

आस कियों थी आसिया जाती देखो दूर ॥

यह सच्चाई है पर समझ में आनी बहुत कठिन है। मन में निदान न हो, आकांक्षा न हो, पाने का संकल्प ही न हो, फिर कैसे उपलब्धि हो

सकती है ? यदि थोड़ा गहरे में जाएं तो पता चलेगा—जो व्यक्ति त्याग करता है, ठुकराता है, नहीं चाहता है, उसके पीछे-पीछे वह चीज आती है । जिसकी आशा करता है, वह दूर जाना चाहती है । यह एक प्रकृति का नियम है ।

अनिदानता का सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है । कोई निदान नहीं, बंधन नहीं । निदान का अर्थ होता है बंधन । निदानं निकाचनम्—अपने आपको बांध देना । हम किसी चीज के साथ अपने-आपको बांध दें, वह मिले या न मिले, यह जरूरी नहीं है पर इससे कष्ट जरूर मिलेगा । किसी भी पदार्थ के साथ अपने आपको न बांधना, इसका नाम है अनिदान । यह अनिदान कल्याणकारी भविष्य का निर्माण करता है ।

दृष्टि-संपन्नता

दूसरी बात है दृष्टि-संपन्नता । ज्ञान संपन्न होना अलग बात है और बुद्धि संपन्न होना अलग बात है । वस्तु का जो साक्षात्कार होता है, सम्यक् दर्शन होता है, उसका मूल हेतु है दृष्टि-संपन्नता । आचार्य भिक्षु ने सूत्रों का अध्ययन किया था, पर राजनगर की एक घटना ने उन्हें दृष्टि-संपन्न बना दिया । जब तक हमारे में दृष्टि-संपन्नता नहीं आएगी, तब तक पढ़कर भी हम उसका सही अर्थ नहीं लगा सकेंगे । पढ़ने और समझ लेने में बहुत अन्तर होता है । आज धर्म और सम्प्रदाय के क्षेत्र में यह समस्या बन रही है—जो अनुभवी लोगों ने कहा, लिखा, उसे हम नहीं पढ़ रहे हैं, पर वह पढ़ रहे हैं, जो हमारा संस्कार बना हुआ है । हम महावीर को समझना नहीं चाहते किन्तु महावीर की वाणी को अपनी समझ में ढालना चाहते हैं । हमारे भीतर धारणा का एक चौखटा बना हुआ है । हम प्रत्येक बात को उसमें ढालेंगे । जहां वह नहीं ढलेगी, वहां फिर काट-छांट करेंगे । यह सब जहां होता है, वहां सम्यक्दर्शन नहीं होता, सत्य का साक्षात्कार नहीं होता । जब दृष्टि-संपन्नता आ जाती है तब सत्य का साक्षात्कार होता है । उस स्थिति में अपनी धारणा नहीं होती, अपना अभिनिवेश और आग्रह नहीं होता । जिसने जो कहा, उसे हम सीधा समझने का ही प्रयत्न करेंगे । यह जो पत्राचार चलता है, उससे अनेक बार समस्या उलझ जाती है । समस्याओं को पत्राचार से नहीं, आमने-सामने बैठकर सुलझाना चाहिए । पत्राचार से स्थितियां बिगड़ती चली जाती हैं । इसका कारण क्या है ? एक है अर्थ और एक है ग्रहण । एक व्यक्ति का अर्थ, सामने वाले व्यक्ति का ग्रहण और उसके बीच में माध्यम बनता है शब्द । शब्द पूरी बात कह नहीं पाता । ग्रहण करने वाला शब्द को विचित्र ढंग से पकड़ेगा । शब्द की अपनी अपूर्णता है इसीलिए अर्थ करने वाला उलझ जाता है । यदि मनुष्य दृष्टि-संपन्न बन गया, तो

सम्यक्-दर्शन होगा, वह मिथ्या ग्रहण नहीं करेगा ।

योगवाहिता

तीसरा साधन है योगवाहिता—योगवाही होना । योग के दो प्रकार है—ध्रुव योग और अध्रुव योग । जिस समय जो कार्य करणीय होता है, वह हमारा ध्रुव योग है । आहार के समय आहार, ध्यान के समय ध्यान, स्वाध्याय के समय स्वाध्याय, यह है ध्रुव योग । ध्रुव योग को हीन न करें । जो जिस समय पर करणीय है, वह उसी समय करें । नियमित होनी चाहिए दिनचर्या । यदि स्वाध्याय करना है, तो स्वाध्याय करते समस्त वृत्तियों को उसके साथ न जोड़ें । यदि कषाय, आसक्ति और मूर्च्छा प्रबल होगी तो जो लाभ स्वाध्याय में मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाएगा । इसीलिए आचार्यों ने विधान किया—स्वाध्याय के साथ योगवाहिता चलनी चाहिए, तपस्या चलनी चाहिए । आहार का संयम होगा, तो स्वाध्याय बहुत फलदायी बनेगा । जब स्वाध्याय करना है, पेट को थोड़ा विराम देना होगा । विशेष साधना के प्रयोग करने हों, तो साथ में आहार का संयम करना चाहिए । इसका नाम है योगवाहिता । वात, पित्त और कफ उत्तेजित न हों, इस बात का ध्यान देना, यह है योगवाहिता । इसका एक अर्थ यह भी है—योग का वहन करना, ध्यान में जाना, चित्त की एकाग्रता करना ।

क्षान्ति-क्षमणता

चौथा सूत्र है क्षान्ति-क्षमणता । क्षान्ति का अर्थ है शक्ति और रक्षमण का अर्थ है सहन करना । इसका संयुक्तार्थ है—शक्तिशाली होते हुए सहन करना । संस्कृत साहित्य में क्षमा और सहन करना एक शब्द है । कायर और कमजोर आदमी कभी सहिष्णु नहीं बन सकता । एक ही धातु के दो अर्थ हो गए—समर्थ होना और सहन करना । कमजोर आदमी कभी सहन नहीं कर सकता । सहन वही कर सकता है, जो समर्थ होगा । महावीर ने प्रत्येक बात को सहा इसलिए कि वे शक्तिशाली थे । हम सहन करें, सहन करना सीखें, प्रत्येक घटना और संकट को सहन करने की क्षमता जाग जाएगी । एक मुनि के लिए बहुत कुछ सहन करने का विधान किया गया है । कष्टों को सहन करने का विधान किया गया है । इसका मतलब यही है—यदि तुम तैजस शक्ति को जगाना चाहते हो, कुंडलिनी को जगाना चाहते हो, तो कष्टों को सहन करना सीखो । भूख का कष्ट, व्यास का कष्ट—इन सबको सहन करते जाओगे, तो तुम्हारी तैजस शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति अपने आप जाग जाएगी । तुम्हारा आकर्षण बढ़ता चला जाएगा । तपस्या की शक्ति से, कष्टों को सहन करने से अपने आप कुण्डलिनी जाग जाती है । कष्ट सहना मूर्खता नहीं है । हमारे आचार्यों ने कष्ट सहने का जो विधान किया, उसके पीछे रहस्य छिपा था—

यदि तुम अपनी शक्ति को जगाना चाहते हो तो शक्तिपात के चक्कर में मत पड़ो। यह जागेगी तो अपनी तपस्या से ही जागेगी। कष्ट सहे बिना कुछ भी नहीं जागेगा। कष्ट सहे बिना राष्ट्र का भी निर्माण नहीं होता। किसान और मजदूर कितना कष्ट सहते हैं, तब निर्माण होता है। जो आत्मा का निर्माण करना चाहता है, क्या वह आराम से बैठे-बैठे कर लेगा? क्या यह सम्भव है?

मनन के साथ जीएं.

महत्त्वपूर्ण सूत्र है सहिष्णुता। यह कोई विवशता या जबरदस्ती नहीं है। यह स्वेच्छा से अपने विकास के लिए स्वीकृत मार्ग है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा—मार्ग से च्यवन न हो, मार्ग पर अबाध गति से चलते रहो और विकास हो इसलिए कष्टों को सहना है। यह क्षमा कल्याणकारी भविष्य का सृजन करेगी।

ये सूत्र हमारे कल्याणकारी भविष्य के निर्माण के लिए अत्यन्त महत्त्व के सूत्र हैं। इन सभी सूत्रों का गहराई से मनन करें, निश्चित ही हमारा भविष्य उज्ज्वल होगा। हम उज्ज्वल भविष्य की कामना करें, कल्पना करें, इन सूत्रों का मनन भी करें। पशु भी जीता है, पक्षी भी जीता है, पेड़-पौधे भी जीते हैं, मनुष्य भी जीता है पर मनुष्य का महत्त्व क्यों है? इसलिए है कि मनुष्य मनन करता है। जो मनन के साथ नहीं जीता, उसका कोई मूल्य नहीं होता। हम अपने जीवन को मनन के साथ जीएं। हमारा वर्तमान ही नहीं, भविष्य भी कल्याणकारी होगा।

आधार :
दशवैकालिक

कैसे करें क्रियाएं जीवन की ?

प्रत्येक व्यक्ति चलता है, किन्तु क्या वह जानता है — कैसे चलना चाहिए ? चलना एक बात है और चलना सीखना बिल्कुल अलग बात है । जीवन का पहला पाठ है—चलना सीखें । जो तनावमुक्त जीवन जीना चाहता है, उसके लिए भी यह पहला पाठ है । प्राचीन काल में यह पाठ नये शिष्य को बड़े-बड़े आचार्य पढ़ाते थे । जो जीवन को धारण करता है, उसके लिए गति आवश्यक होती है । गति के बिना जीवन चलता नहीं है । चलना जरूरी है । साधु बनने का मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति निवृत्ति के मार्ग पर चला जाए और वह गति को भी निवृत्त कर दे । वह आसन लगाकर एक जगह पर बैठ जाए और जीवन भर बैठा रहे । ऐसा जीवन बहुत कम लोगों के लिए सम्भव बनेगा, ऐसी साधना भी बहुत कम सम्भव बनेगी । गति में निवृत्ति है किन्तु साथ-साथ प्रवृत्ति भी है ।

निवृत्तियुक्त प्रवृत्ति

निवृत्ति और प्रवृत्ति का नया आयाम है—साधु का जीवन । एक जीवन ऐसा होता है, जिसमें कोरी प्रवृत्ति ही होती है । एक जीवन का अन्त ऐसा होता है, जिसमें कोरी निवृत्ति ही होती है, उसका नाम है—प्रायोपगमन । प्रायोपगमन अनशन में केवल निवृत्ति है, प्रवृत्ति नहीं है । जैसे कोई सूखा पेड़ गिरकर अचल पड़ा रहता है, वैसे ही अनशनकर्त्ता स्थिर हो जाता है । यह एकान्त निवृत्ति का जीवन है प्रायोपगमन । एकान्त प्रवृत्ति का जीवन मिथ्यादृष्टि का जीवन है । जो संयम करना नहीं जानता, उसका भी ऐसा ही जीवन होता है । जिसने संयम के रहस्य को समझा है, निवृत्ति और प्रवृत्ति के संतुलन का मार्ग समझा है, उसका जीवन न प्रवृत्ति का जीवन है और न निवृत्ति का जीवन है । उसका जीवन निवृत्ति-संवलित-प्रवृत्ति का जीवन होता है । नीचे निवृत्ति रहेगी, ऊपर लौ जलती रहेगी, दीबट स्थिर रहेगा । हर प्रवृत्ति के पीछे निवृत्ति होगी । निवृत्तिशून्य कोई भी प्रवृत्ति एक संयमी के लिए मान्य नहीं होती ।

जीवन का पहला पाठ

हमारा आधारभूत सूत्र है—हमें चलना सीखना है, खड़ा होना सीखना है, बैठना, सोना, बोलना और खाना—सब कुछ सीखना है । ये

सहज क्रियाएं हैं। एक अवस्था के साथ हर व्यक्ति सीख जाता है। इसमें सीखना क्या है? कहा गया—चलना नहीं सीखना है सीखना है, निवृत्ति के साथ चलना। गति में स्थिरता को सीखना है, बोलने में न बोलने को सीखना है, आहार में भी अनाहार को सीखना है। यह मर्म की बात है और यही जीवन का पहला पाठ है। मुनि बनने वाले व्यक्ति के लिए कहा गया—अब तक तुम प्रवृत्ति में थे और अब निवृत्ति में आ गए। तुम्हें निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति करनी होगी। निवृत्ति को छोड़कर तुम्हारी कोई प्रवृत्ति नहीं होगी।

कैसे चलें ?

एक शिष्य ने प्रश्न पूछ लिया—‘मंते ! मैं इतने दिन चलता था, अब साधु बन गया। मैं चलूं या न चलूं।’

‘वत्स ! चलना निषिद्ध नहीं है।’

‘मैं कैसे चलूं?’

‘वत्स ! यतना से चलो।’

‘गुरुदेव ! यतना का तात्पर्य क्या है?’

‘वत्स ! पहली बात है—मंद गति से चलो, धीमे-धीमे चलो।’ दूसरी बात है—चलते समय मन में उद्वेग नहीं होना चाहिए। शांति के साथ चलो।

तीसरी बात है—चित्त में कोई विकल्प या आतुरता न हो।

चलने के विधान

ये तीन बातें हैं—मंद, अनुद्विग्न और अविक्षिप्त चित्त। ये केवल मुनि के लिए ही नहीं है, सबके लिए हैं—

से गामे वा नगरे वा, गोयरगगओ मुणी ।

चरे मंदमणुविवरगो, अव्वविविखत्तेण चेयसा ॥

कहा गया—शरीर प्रमाण-भूमि को देखते हुए चले। यह भी चलने का सामान्य नियम है। बीज, हरियाली, जल आदि का वर्जन करते हुए चले—^१

पुरओ जुग मायाए पेहमाणो मंहि चरे ।

वज्जंतो बीय हरियाइं, पाणे य वगमट्टियं ॥

योग का निर्देश

चलने के लिए योग का एक निर्देश है—न भुककर चले, न अकड़ कर चले, सहज और सीधा चले।

न तो अत्यन्त हर्ष प्रकट करता हुआ चले और न ही आकुलता का भाव लेकर चले। एकदम तटस्थ भाव के साथ चले—^१

१. वसवेआलियं ५/२

२. वसवेआलियं ५/३

३. वसवेआलियं ५/३

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।

इन्द्रियाणि जहाभागं, वमइत्ता मुणी चरे ॥

एक मुनि के लिए कहा गया—वह दौड़ता हुआ न चले, हंसता और बोलता हुआ न चले—^१

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।

हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥

चलने का एक निर्देश दिया गया—जो स्थान चलाचल हो, जहां संक्रमण हो, खतरा हो, वहां न जाए। ऐसे स्थान पर मत चलो, जहां फिसलने या गिरने की सम्भावना हो—^२

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए ।

संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥

योगयुक्त गति हो

दशवैकालिक में चलने के ये निर्देश हैं। उत्तराध्ययन में भी ये निर्देश मिलते हैं। इसकी अगर इतनी ही व्याख्या कर दें कि संयमपूर्वक चलें तो पूरी बात समझ में नहीं आएगी। संयम की व्याख्या करने के लिए इन सारे संदर्भों को ध्यान में रखना जरूरी है। अगर इन सारे संदर्भों को ध्यान में रखा जाए, तो एक सुखद और शान्त गति का सिद्धांत हमारी समझ में आ सकता है।

योग में भी गति पर विचार किया गया। कुछ योगियों ने भ्रमण-प्राणायाम का आविष्कार किया—चलते समय लम्बा श्वास लें और ध्यान केवल चलने पर ही रहे। गति के सारे निर्देश हम समझें तो हमारी गति स्वयं स्थिति बन जाती है। फिर कोरी प्रवृत्ति नहीं रहती, निवृत्ति-युक्त-प्रवृत्ति बन जाती है। योगयुक्त प्रवृत्ति—युक्तं गच्छध्वं—यह है योग गति।

कैसे ठहरें ?

दूसरा प्रश्न है—कहां चिट्ठे ? खड़ा कैसे रहे ? कब ठहरे ? कहां ठहरे ? कैसे ठहरे ? इसमें ये तीनों बातें आ जाती हैं। इस बारे में जो निर्देश मिलते हैं, वे भी महत्वपूर्ण हैं। खड़े रहने में शरीर की मुद्रा क्या होनी चाहिए। कहा गया—सीधा खड़ा हो, हाथ अपने घुटने से सटे हुए हों, एड़ियां मिली हुई हों और आगे से पैरों में चार अंगुल का अन्तर हो। एक शब्द का प्रयोग मिलता है—उड्ढं ठाणं—उध्वंस्थान। ऊंचा होना, सीधा होना, आयत होना। शरीर सीधा रहे, जिससे विद्युत् के वलय में कोई बाधा न आए।

१. दसवेआलियं ५/४

२. दसवेआलियं ५/४

जहाँ ध्यान की मुद्रा का वर्णन आता है वहाँ दो मुद्राएं बतलाई गईं—हाथों को लटकाते हुए और हाथों को ऊपर करते हुए। ये दो मुद्राएं खड़े रहने की हैं।

कैसे बैठें ?

तीसरा प्रश्न है—‘कहमासे’। कैसे बैठें ? कहां बैठें ? कब बैठें ? कहा गया—सीधा जमीन पर न बैठें। कोई आसन आदि बिछाकर बैठें। आंगन में बैठना हो तो भूमि का प्रमाज्जन कर बैठें। जितेन्द्रिय होकर, बिल्कुल शान्त होकर बैठें। आलीनगुप्त होकर बैठें—लीन भी हो और गुप्त भी। चंचलता न हो। स्थिर और शान्त बैठें—^१

हृत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।

अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी ॥

आसन

कैसे चलें ? कैसे खड़े हों ? इन पर दूसरी दृष्टि से विचार करें। इनके साथ आसनों का विकास हुआ है। एक वे आसन हैं, जो बैठकर किए जाते हैं ? एक वे आसन हैं, जो खड़े होकर किए जाते हैं। एक वे आसन हैं, जो चलते हुए किए जाते हैं। जैन योग में आसनों का इस प्रकार निर्देश है—पहले सोकर (लेटकर) किए जाने वाले आसन, फिर बैठकर किए जाने वाले आसन और उसके बाद खड़े होकर किए जाने वाले आसन। शयन आसन चार बार करवट लेकर किए जाते हैं। उसके बाद फिर बैठकर आसन करने का निर्देश है। आसन का सारा विषय भी इसमें समाहित हो जाता है। इसी प्रकार खड़े होने के भी अनेक आसन हैं। यह जीवन का समग्र विषय है।

शिष्य की जिज्ञासा

जब कोई व्यक्ति दीक्षित होता है, मुनि बनता है तब आचार्य उसे सबसे पहला पाठ यही पढाते हैं। शिष्य पूछता है—गुरुदेव ! एक मुनि कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? ? कैसे सोए ? कैसे बोले ? जिससे कर्म का बंधन न हो ?^१

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।

कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

आचार्य ने समाधान देते हुए कहा—तुम संयमपूर्वक चलो, संयम पूर्वक खड़े रहो, संयम पूर्वक बैठो, संयमपूर्वक सोओ, संयमपूर्वक बोलो,

१. दसवेआलियं ८/४४

२. दसवेआलियं ४/७

संयमपूर्वक खाओ । इससे पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा—^१

जयं चरे जयं चिट्टे जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

‘कहं चरे’—इस श्लोक की तुलना गीता के उस श्लोक से होती है, जिसमें समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है—^२

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥

क्रिया सम्यग् बने

यह पाठ एक मुनि के लिए ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के लिए है । समस्या यह है—बड़े-बड़े लोग भी सम्यग् चलना नहीं जानते, सम्यग् बैठना और सम्यग् खड़ा होना नहीं जानते । यह सब बच्चों को ही नहीं, युवकों को भी सीखना है । इस सीखने का असर शरीर के साथ-साथ हमारे मन और भावों पर भी पड़ेगा । तनाव क्यों आता है ? मांसपेशियों पर थोड़ा-सा भी दबाव पड़ता है, तो तनाव आ जाता है । चलना, बैठना, सोना, खड़ा होना, बहुत बड़ा विषय है हमारे जीवन का । हम इन क्रियाओं को इस प्रकार करें, जिससे न मांसपेशियों में तनाव आए, न मन में तनाव आए और न ही कोई भावनात्मक तनाव आए । हम इन क्रियाओं को सम्यक् बनाएं, स्वास्थ्य का रहस्य उपलब्ध होगा ।

१. बसवे आलियं ८/८

२. गीता २/५४

सद्गति उसके हाथ में है

भामा रिसर्च इंस्टीट्यूट के वैज्ञानिक डा० श्रीवास्तव ने चेतना का लक्षण बतलाया— 'जो कर्ता है, वह चेतना है। सब्जेक्ट (subject) कभी ऑब्जेक्ट (object) नहीं बनता। जैन दर्शन की दृष्टि से इस पर विचार करें तो कुछ और जोड़ देना होगा। वह यह है। जिसमें ऐच्छिक कर्तृत्व है, वह चेतना है। कर्तृत्व पुद्गल में भी होता है। एक परमाणु यहां है, वह लोकान्त तक चला जाता है। यदि क्रिया नहीं है तो गति नहीं हो सकती।

प्रेरणा है इच्छा

कहा जाता है—सद्गति तुम्हारे हाथ में है। इसका मतलब है—वह इच्छाप्रेरक कर्तृत्व है। जब हम इच्छा करते हैं तब हमारी सारी क्रिया होती है। हमारा कर्तृत्व सुरक्षित है पर उसकी प्रेरणा है इच्छा। व्यक्ति में पहले इच्छा पैदा होती है—मैं चलूंगा, मैं खाऊंगा। उसके बाद कर्तृत्व होता है—वह चलता है, वह खाता है। प्रत्येक क्रिया के पीछे इच्छा का योग होना जरूरी है। बिना इच्छा के जो कर्तृत्व होता है, वह अवचेतन मन का कर्तृत्व होता है। वह संबोधपूर्वक कर्तृत्व नहीं है। हमारा भाग्य हमारे हाथ में है और वह इसीलिए है कि उसके साथ हमारी इच्छा जुड़ती है, संकल्प जुड़ता है।

इच्छा और कर्तृत्व

सांख्य दर्शन, जैन दर्शन और वेदांत दर्शन—ये तीन प्राचीन दर्शन हैं। सांख्य दर्शन में चेतना कर्ता नहीं, अकर्ता है। जितने भी ईश्वरवादी दर्शन हैं, उनमें चेतना कर्ता है—यह व्याप्ति नहीं बनती। वेदांत में भी कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जैन दर्शन में कर्तृत्व की स्वतन्त्रता स्वीकृत है। वह न ईश्वरवादी है, न ब्रह्मवादी। वह केवल आत्मवादी है। आत्मा के साथ हमारा कर्तृत्व जुड़ता है। दो बातें प्रस्तुत हो गई—इच्छा और कर्तृत्व। हमारा कर्तृत्व इच्छापूर्वक है। हम जो चाहते हैं, वह करते हैं इसीलिए कहा गया—अप्पा कारगो—आत्मा कारक है। यह लक्षण सांख्य दर्शन में भी नहीं मिलता और वेदांत में भी नहीं मिलता। 'आत्मा कर्ता है' यह

लक्षण बहुत अच्छा है किन्तु इसके साथ इच्छा को जोड़ना अपेक्षित है ।

चाह और क्रिया

प्रश्न है इच्छा का । इच्छा किस ओर जा रही है ? सद्गति और दुर्गति—दोनों मनुष्य के हाथ में है । सुख और दुःख का कर्ता आत्मा है, चेतना है । सद्गति और दुर्गति उसके हाथ में कैसे है ? इसका उत्तर इस प्रश्न में छिपा है—मनुष्य की इच्छा किस दिशा में जा रही है ? दशवैकालिक सूत्र में यह विवेक प्रतिपादित है—तुम सद्गति चाहते हो तो इच्छा को किस दिशा में प्रेरित करना है, यह जानो । यदि दुर्गति चाहते हो तो इच्छा कहां जाएगी, यह देखो । वस्तुतः कोई भी आदमी दुर्गति चाहता नहीं है । चाह और क्रिया—दोनों साथ-साथ चलती हैं । यदि क्रिया चाह के अनुरूप नहीं है तो चाह भूठी हो जाएगी । जैसी चाह है, वैसी क्रिया है तो चाह और क्रिया—दोनों जुड़ जाएगी । इच्छा चाहे अव्यक्त हो पर उसके साथ क्रिया जुड़ जाती है, इच्छा और क्रिया में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।

दुर्गति के चार हेतु

प्रत्येक व्यक्ति सद्गति चाहता है । दुर्गति कोई नहीं चाहता । सद्गति कब मिलती है ? दुर्गति क्यों मिलती है । ये प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मानस में उठते रहे हैं । इन प्रश्नों के संदर्भ में कहा गया—

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।

उच्छोलणापहोइस्स दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

दुर्गति के चार कारण हैं^१—

१. सुख की लालसा
२. साताकुलता
३. अधिक सोना
४. विभ्रुषा ।

जो सुख का रसिक, सात के लिए आकुल अकाल में सोने व ला और हाथ पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है । जो आदमी इस प्रकार की मनोवृत्ति का होता है उसके हाथ में दुर्गति आती है । उसकी मृत्यु के बाद ही नहीं, वर्तमान जीवन में भी दुर्गति होती है ।

सुख की लोलुपता

दुर्गति का एक कारण है—सुख की लोलुपता, सुख का स्वाद लेना । जब हमारी इच्छा सुख-आस्वाद के साथ जुड़ जाती है तब दुर्गति का हेतु प्रस्तुत हो जाता है । सुख एक बहुत उलभा हुआ तत्त्व रहा है । हर प्रयत्न

सुख के लिए होता है। धर्म, धन, सत्ता—सब कुछ सुख के लिए होते हैं किंतु सुख काम्य कभी नहीं रहा। कहा गया—सुख में उलझो मत। उसमें आसक्त मत बनो। जो व्यक्ति राजनीति या सत्ता के सुख में उलझ गया, वह समाप्त हो गया। जो व्यक्ति धर्म के क्षेत्र में गया और सुख में उलझ गया, वह भी समाप्त हो गया। जो धन-सम्पत्ति के सुख में उलझ गया, वह भी समाप्त हो गया।

सुगति का सूत्र है—सुख का आस्वाद मत लो। जो भी मिला, उसे काम में ले लिया। अच्छा आहार मिला, अच्छा मकान मिला, उसका उपयोग कर लिया पर उसका आस्वाद मत लो। उससे चेतना का सम्बन्ध मत जोड़ो। उसमें जो उलझ गया, उसने अपने लिए दुर्गति का रास्ता तय कर लिया।

साताकुलता

दुर्गति का दूसरा कारण है—सात के लिए आकुल होना। साता है—प्रिय संवेदन। जो निरन्तर यह सोचता रहता है—अमुक वस्तु, अमुक पदार्थ कब मिले, वह सद्गति से दूर चला जाता है। किसी वस्तु के प्रति मन में आकुलता जग जाती है तो दुर्गति शुरू हो जाती है। प्राप्त सुख और सात निरन्तर बने रहें, यह चिन्ता नहीं होनी चाहिए। अमुक योग कब मिलेगा, इस चिन्तन में चित्त का विक्षेप होता है। यह दुर्गति का कारण बनता है और इससे मानसिक तनाव निश्चित ही आता है।

सुख-स्वाद और साताकुलता—दोनों आर्तध्यान से जुड़े हुए हैं। प्रिय का संयोग आर्तध्यान का ही एक भेद है। जब चेतना प्रिय के संयोग के लिए आकुल हो जाती है तब धर्मध्यान समाप्त हो जाता है। वहां आर्तध्यान शुरू हो जाता है और वह दुर्गति की दिशा में ले जाता है।

निकामशायी होना

दुर्गति का तीसरा कारण है—निकामशायी होना, खूब सोना। जो बहुत नींद लेता है, सोता ही रहता है, वह सुगति प्राप्त नहीं कर सकता। जब सोने, प्रबलता आती है, दुर्गति की स्थिति बन जाती है। सुगति के लिए बहुत जागरूक रहना होता है। जो अधिक सोता है, वह जागरूक नहीं रह सकता। अधिक नींद लेने वाला न अपने प्रति जागरूक रह सकता है, न अपने दायित्व और कर्तव्य के प्रति जागरूक रह सकता है। जहां जागरूकता नहीं होती वहां दुर्गति सामने आ जाती है।

विभ्रूषा

दुर्गति का चौथा कारण है—विभ्रूषा। जो व्यक्ति स्वयं को एकदम टिपटाँप रखता है, दिन रात संवारे रखता है और यह सोचता है—दुनिया

में मैं ही सुन्दर हूँ, दूसरा कोई नहीं है, वह दुर्गति को आमंत्रित कर लेता है। जब व्यक्ति का अंतः व्यक्तित्व सुन्दर नहीं होता तब बाह्य सुन्दरता से कोई काम नहीं चलता। जब साज-सज्जा की, अपने को सुन्दर दिखाने की भावना जाग जाती है तब व्यक्ति का आंतरिक व्यक्तित्व असुन्दर बनता चला जाता है।

चतुराई होना, ठीक ढंग से रहना, एक बात है, किन्तु शृंगार, साज-सज्जा और विभूषा की भावना का होना बिल्कुल दूसरी बात है। यह भावना छोटे आदमी में अधिक होती है, बड़े आदमी में कम होती है। जैन समाज के एक प्रसिद्ध उद्योगपति को देखा। वे अनेक मिलों के मालिक थे। उनकी धोती इतनी सामान्य थी, जैसे किसी ग्रामीण ने पहन रखी हो। एकदम साधारण कपड़े पहने हुए थे। आदमी के भीतर जैसे-जैसे बड़प्पन जागता है, बनाव—शृंगार की वृत्ति कम होती चली जाती है।

व्यावहारिक स्तर पर

हम इसे व्यावहारिक स्तर पर देखें। एक व्यक्ति को कोई नौकर रखना है। यदि नौकर रहने वाला व्यक्ति कहे—मैं आराम से रहूँगा। क्या उसे रखा जाएगा? नौकर की पहली अहंता है—पूरा काम करने वाला होना चाहिए। जो व्यक्ति अपना पूरा कर्तव्य निभाता है, व्यक्ति उसे रखना पसंद करता है। आरामतलब को कोई भी मूल्य नहीं देता। व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति को पूरी ड्यूटी देनी पड़ती है, पूरा जागरूक रहना होता है। जहाँ आराम की भावना आ गई, निकम्मेपन की भावना आ गई, वहाँ दुर्गति का द्वार खुल गया। वर्तमान जीवन की विपन्नता, कमजोरी, गरीबी—ये सब अपने कर्तृत्व के कारण होती हैं। जो व्यक्ति आरामतलब, बहुत सोने वाला, सुन्दरता में रचापचा रहता है, वह भविष्य में ही नहीं, वर्तमान में भी दुःख पाता है।

सद्गति : चार हेतु

प्रश्न है—सद्गति किसे उपलब्ध होती है? कहा गया—

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।

परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

चार कारणों से व्यक्ति सुगति को प्राप्त होता है—

१. तपोगुण की प्रधानता।
२. ऋजुमति।
३. क्षांति और संयम में अनुरक्तता।
४. परीषहजयी—कष्टसहिष्णु।

सद्गति की दिशा में

दुर्गति का पहला कारण है सुख लोलुपता। सुगति का पहला कारण है तपस्या। जिसके जीवन में तपस्या आ गई, उसकी निश्चित सुगति हो जाती है। अग्नि में तपे बिना सोना कभी कुंदन नहीं बनता। तपना बहुत जरूरी होता है कुछ पाने के लिए। जहां सरलता है वहां सुगति है। जहां कुटिलता है वहां दुर्गति आएगी। जो लोग सरल और भद्र होते हैं, वे अच्छी गति को प्राप्त होते हैं। जो सहिष्णु हैं, जिनका अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण है, वह सद्गति की दिशा में कदम बढ़ाता है। जिसका अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है उसकी सद्गति नहीं होती। जो परीषहजयी है, समस्याओं के सामने घुटने नहीं टेकता, सुगति उसके हाथ में होती है।

हाथ में है सद्गति

दुर्गति और सुगति—दोनों के कारण हमारे सामने हैं। दुर्गति और सुगति—दोनों हमारे हाथ में हैं। हम इनका पूरा तन्मयता से मनन करें। दुर्गति के कारणों से बचें, सुगति के कारणों को जीएं। तपस्या और ऋजुता को अपनाएं परीषहों को जीतें, सुगति का द्वार खुल जाएगा।

यदि ऐसा करना नहीं चाहते हैं, सुगति की आकांक्षा नहीं है तो दुर्गति उसके सामने खड़ी है। जो व्यक्ति कुछ बनना चाहते हैं, सुगति चाहते हैं, उनके लिए इन आध्यात्मिक सूत्रों का मनन आवश्यक है, दुर्गति के हेतुओं का त्याग और सुगति के हेतुओं का स्वीकरण अनिवार्य है।

पाप उससे डरता है

समूचे विश्व के धर्मों का वर्गीकरण करें तो उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी। धर्मों की बहुत बड़ी संख्या ईश्वरवादी है, ईश्वर को मानकर चलने वालों की है। संख्या की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा धर्म ईसाई धर्म है। वह ईश्वरवादी धर्म है। इस्लाम धर्म भी ईश्वरवादी है। भारतीय धर्मों में भी अधिकांश ईश्वरवादी या ब्रह्मवादी धर्म हैं। जैन और बौद्ध—ये दो ऐसे धर्म हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। जो ईश्वर को स्वीकार करते हैं, उनके लिए आचार-संहिता एक प्रकार की होगी। जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, उनके लिए आचार-संहिता दूसरे प्रकार की होगी। जितने सिद्धांत हैं, वे स्वतन्त्र होते हैं तो सार्थक बन जाते हैं। यदि स्वतंत्रता न हो तो सिद्धांत व्यर्थ बन जाएंगे।

कर्ता कौन है ?

प्रश्न है—कर्ता कौन है ? ईश्वर है या आत्मा ? यदि हम आत्मा को कर्ता मानें तो कर्ता स्वतन्त्र होगा। यदि कर्ता स्वतन्त्र नहीं है, किसी दूसरे द्वारा संचालित है तो कर्तृत्व की व्याख्या ठीक नहीं बैठती। उस स्थिति में यह मानना चाहिए—वह आदेश का पालक है। दूसरा जैसा नियोजन करता है, वह वैसा करता है—यथा नियोजितः तथा कुरुते। कर्तृत्व तभी हो सकता है, जब स्वतन्त्रता हो। जैन और बौद्ध दर्शन ने स्वतन्त्रता को स्वीकार किया। प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्तृत्व है, वह किसी दूसरी सत्ता के द्वारा बाधित भी नहीं है, शासित भी नहीं है। ऐसा होने पर ही सिद्धांत और आचार-संहिता का अर्थ होता है। एक व्यक्ति के लिए कैसा सिद्धान्त होना चाहिए ? उसे कैसे चलना चाहिए ? ये निर्देश कर्तृत्व की स्वतंत्रता में ही सार्थक हो सकते हैं।

कर्तृत्व की स्वतंत्रता का सिद्धांत

यदि कर्तृत्व आत्मा का नहीं है तो कर्म का प्रयोजन क्या है ? कर्तृत्व आत्मा का होता है तभी कर्म की सार्थकता हो सकती है। प्रधान है आत्म-कर्तृत्व। कर्म प्रधान नहीं है। आत्मवादी व्यक्तियों का सिद्धांत है आत्म-कर्तृत्ववाद। यह कर्तृत्व की स्वतंत्रता का सिद्धांत है।

कर्तृत्वं नात्मनश्चास्ति, कर्मणः किं प्रयोजनम् ।
 कर्तृत्वमात्मनश्चेत् स्याद्, कर्म तत् सार्थकं भवेत् ॥
 प्रधानमात्मकर्तृत्वं, प्राधान्यं नैव कर्मणाम् ।
 आत्मकर्तृत्ववादी हि, सिद्धांतः आत्मवादिनाम् ॥

सर्वभूतात्मवाद

आत्मवाद का एक सिद्धांत है—सर्वभूतात्मवाद । सब आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझो, अनुभव करो । यह सिद्धांत बहुत परिचित हो गया इसीलिए अर्थ की गंभीरता तक पहुंचने का प्रयत्न नहीं हो रहा है । आत्मवादी या अनीश्वरवादी के लिए इससे बड़ा कोई सिद्धांत नहीं हो सकता । जितने भी पाप बतलाए गए हैं, वे इस सिद्धांत की अनुपालना होने पर पास ही नहीं आते हैं । एक पाप है प्राणातिपात । यह बहुत छोटे अर्थ का सूचक बन गया । इसका अर्थ इतना ही है—किसी को मत मारो । जो अठारह पाप हैं, वे एक प्रकार से प्राणातिपात की व्याख्या हैं ।

विषमता में पनपते हैं पाप

सर्वभूतात्मवाद शब्द बहुत महत्वपूर्ण है । इसमें अर्थ का गांभीर्य है । एक व्यक्ति ने अपनी पूरी स्वतन्त्रता के साथ स्वीकार कर लिया—सब आत्माएं मेरे समान हैं । यदि यह बात उसकी अंतरात्मा में प्रविष्ट हो गई तो क्या वह झूठ बोलेगा ? वह झूठ क्यों बोलेगा ? ये सारे पाप विषमता में पनपते हैं । जहां समानता की अनुभूति नहीं है, आत्मिक विषमता है, वहां व्यक्ति झूठ बोलता है । यदि समानता की गहरी अनुभूति हो गई तो झूठ बोलने का अर्थ ही समाप्त हो जाएगा । आदमी झूठ बोलता है भय से, किसी वस्तु को छिपाने के लिए या किसी को छोखा देने के लिए । भय आ गया, इसका अर्थ है—दूसरे को अपने समान समझा नहीं । समानता में कभी भय नहीं होता । क्रोध आता है असमान के प्रति । समान के प्रति कभी क्रोध नहीं आता । ये सारे कारण आत्मा की विषमता की परिस्थिति में पैदा होते हैं । जब आत्मा की समानता की गहरी अनुभूति हो गई तब झूठ या अपराध का प्रश्न ही नहीं आएगा ।

पाप कब करेगा ?

यह बहुत बड़ा सिद्धांत है सर्वभूतात्मवाद का । बहुत छोटे परिवेश में यह सिद्धांत दिया गया पर इसकी साधना बहुत जटिल है । क्या कोई कह सकता है—मैंने सब आत्मा को समझने की साधना की है या प्रारम्भ कर दी है । व्यक्ति से पाप डरेगा, दूर भागेगा पर ऐसा कब होगा ? जब यह समानता की साधना सध जाए, यह मंत्र सिद्ध हो जाए तब पाप व्यक्ति से दूर ही रहता है । जब मंत्र सिद्ध होता ही नहीं है तब ज्वार के मोती कैसे

बन सकते हैं ? बहुत कठिन साधना है । पांच महाव्रत की साधना हो या बारह व्रत की या ध्यान की साधना की हो । सबसे कठिन साधना है सर्व-भूतात्मभूतवाद की । जब आदमी में थोड़ा-सा स्वार्थ जागता है तब वह अपने आपको बचा लेता है । व्यक्ति की मनोवृत्ति ऐसी विचित्र है कि वह सोचता ही नहीं है—दूसरे का क्या होगा ? वह अपने परिवार का भी नहीं सोचता । सबसे पहले अपने आपको बचाना चाहता है । जहाँ इतना स्वार्थवाद होता है वहाँ सर्वभूतात्मवाद की साधना नहीं की जा सकती ।

गीता का स्वर

गीता में कहा गया है—जो योगयुक्त आत्मा है, विजितात्मा है, शुद्धात्मा है, सब जीवों को अपने समान अनुभव करता है, वह करता हुआ भी लिप्त नहीं होता^१—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मजितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यग् दृष्टि से देखता है, जो आश्रव का निरोध कर चुका है, जो दांत है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता—^२

सर्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ ।

पिहियासवस्स वंतस्स, पावं कम्मं न बंधई ॥

तात्पर्य एक है

दशवैकालिक और गीता—दोनों में जो कहा गया है, उसका तात्पर्य एक ही है । इस बात को पकड़ लिया गया—मैं अनासक्त भाव से कर्म करता हूँ । मुझे कोई दोष नहीं लगता । गीता का शब्द है—**कुर्वन्नपि न लिप्यते** और दशवैकालिक का कथन है—**पावं कम्मं न बंधई** । इन शब्दों को पकड़ लिया पर इनके पीछे जो विशेषण हैं, उन पर ध्यान नहीं दिया । यदि चेतना की वह भूमिका बन जाए तो यह बात ठीक हो सकती है । वह भूमिका नहीं है और व्यक्ति यह कहे—मैं करता हुआ भी लिप्त नहीं होता तो यह एक विडंबना ही कहलाएगी । जो चेतना उस भूमिका पर पहुंची हुई है, वह करता हुआ भी लिप्त नहीं होता, उसके कर्म का बंध नहीं होता, पाप उससे दूर भागता है । हम इन विशेषणों पर ध्यान दें—जो सबको अपने समान समझता है, जिसने आस्रवों को रोक दिया है, जो दांत—जितेन्द्रिय है, वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता । विशुद्धता, जितेन्द्रियता, सर्वभूतात्म-भूतता—ये सारे शब्द भी मिल जाते हैं । इन दोनो श्लोकों को एक ही तुला पर तोला जा सकता है ।

१. गीता ५/७

२. दसवेअलियं ४/९

चेतना निश्छिद्र बने

हम इस भूमिका पर विचार करें। चेतना की उस स्थिति का निर्माण किया जा सकता है, जिसमें पाप लगना ही बंद हो जाए। एक नौका या जहाज समुद्र में चलता है। वह डूबता नहीं है, पार चला जाता है। उसका कारण क्या है? कारण यही है—उसमें छेद नहीं है। इसी प्रकार जिसने चेतना को निश्छिद्र बना लिया है, वह संसार समुद्र में रहता हुआ भी डूबता नहीं है। उसके भीतर पाप का जल प्रवेश नहीं कर पाएगा। यह स्थिति तभी बनती है, जब हम चेतना को निश्छिद्र बना सकें। उस समय नौका चल रही है या ठहरी हुई है पर वह डूबेगी नहीं। यही स्थिति निश्छिद्र चेतना की होती है। वह स्थिर है या काम कर रही है, उसके पाप कर्म का बंध नहीं होता।

कर्मवाद के विकास का प्रश्न

इस सन्दर्भ में जो आधारभूत सिद्धांत है, वह सर्वभूतात्मवाद का है। वह कर्मवाद से जुड़ा हुआ सिद्धांत है, कर्तृत्व से जुड़ा हुआ सिद्धांत है। ईश्वरवाद, आत्मकर्तृत्ववाद और कर्मवाद—ये तीन दार्शनिक तत्त्व हैं। ईश्वरवादी भी कर्म को स्वीकार करते हैं और आत्मवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। प्रश्न है—कर्मवाद का विकास किस दर्शन ने किया? यदि ईश्वर कर्ता है तो कर्म को बीच में लाने की आवश्यकता ही नहीं थी। पर कर्मवाद को लाया गया और वह भी बहुत कमजोर रूप में। ईश्वरवाद में कर्मवाद का विशेष अर्थ नहीं रहता है। एक ऐसा लचीला माध्यम अपना लिया गया, जो ज्यादा काम का नहीं है।

ईश्वरवाद और कर्मवाद

वस्तुतः कर्मवाद वहीं सार्थक हो सकता है, जहां कर्तृत्व अपना है। अपना कर्तृत्व नहीं है तो अपना कर्म भी नहीं है। जब सीधा सम्बन्ध ईश्वर पर आ जाता है, तब कर्मवाद गौण हो जाता है। आदमी इस भाषा में बोलता है—‘हमें इस काम में क्यों लगाया? इस हिंसा या बुराई के काम में कहां फंसाया है।’ कर्म एक नौकर जैसा ही है, जिसका काम इतना ही है—मालिक ने जो कहा, वह कर दिया। जहां भेजा, वहां चला गया। उसका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब कर्म को हम ऐसा नौकर बना लें, वह तीसरी सत्ता हो जाए तब क्या होगा? मूल सत्ता है ईश्वरीय सत्ता, दूसरी ओर है व्यक्ति। इन दोनों के बीच कर्म ऐसा आ गया, जो कुछ कर ही नहीं पा रहा है। यदि कर्म समझदार होता तो वह बीच में रहता ही नहीं, वह मौन हो जाता या त्यागपत्र देकर हट जाता।

अध्यात्मवाद और कर्मवाद

जहाँ आत्मवाद की अवधारणा है वहाँ कर्म का एक अर्थ है। वह विचौला, दलाल या नौकर नहीं है। उसका अपना अस्तित्व है। आत्मवादी दर्शन में यह स्वीकार किया गया—कहीं-कहीं कर्म बलवान् होता है और कहीं-कहीं जीव। आत्मा की सत्ता से भी कर्म की सत्ता को बलवान् मान लिया गया। वहाँ कर्मवाद की एक सत्ता होती है, एक अर्थ होता है। जब कर्म का अर्थ होता है तब व्यक्ति को यह सोचने का मौका मिलता है—ऐसा आचरण करूँ, जिसके पाप कर्म का बंध न हो। क्या ईश्वरवादी को यह चिन्ता होती है? वह सोचता है—मुझे ईश्वर की कृपा मिल गई अब चाहे सो करूँ। ईश्वरवादी के लिए सबसे बड़ी साधना कोई हो सकती है तो वह यह है—ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त करना, उसे प्रसन्न करना। ईश्वर की कृपा मिल जाए तो सौ हाथ की सोड में सोओ, किन्तु एक आत्मवादी किसी की कृपा पर निर्भर नहीं रहता। उसका अपना सिद्धांत होगा—सब आत्माओं को अपने समान समझना।

महावीर और बुद्ध का स्वर

यही कारण है—ईश्वरवादी दर्शनों में उपासना, भक्तिवाद, ईश्वर-स्तुति—इन बातों पर अधिक बल दिया गया। भगवान् महावीर और बुद्ध ने इन बातों पर बल नहीं दिया, क्योंकि उन्हें किसी की कृपा को प्राप्त नहीं करना था। महावीर का स्वर था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥

बुद्ध का स्वर रहा—‘अप्पदीवो भव’—आत्मदीप बनो। ये सारे सूत्र कर्मवाद के आधार-सूत्र हैं। जहाँ सारा दायित्व व्यक्ति पर आ जाता है, वहीं कर्मवाद की बात सार्थक हो सकती है।

यदि हम सूक्ष्मता से दार्शनिक धारा पर विचार करें तो यह प्रतीत होगा—भूतात्मभूतवाद का सिद्धांत ईश्वरवादी मान्यता में नहीं आना चाहिए, गीता में यह श्लोक नहीं आना चाहिए। किन्तु गीता को एक ऐसा समाहार ग्रंथ बना लिया, जिसमें सब धर्मों के विचार दिए। यदि मीमांसा करें तो यह विचार ईश्वरवादी दर्शन का नहीं हो सकता। यह विचार आत्मवादी या कर्तृत्ववादी दर्शन का हो सकता है।

प्रत्यक्षानुभव जागे

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसे एक महान् सिद्धांत मिला है—आत्मा है, आत्मा कर्म की कर्ता है, आत्मा स्वतंत्र है, वह स्वयं कर्म-फल को भोगता है और स्वयं ही उनको तोड़ने वाला है। इस सारे परिप्रेक्ष्य में

सर्वभूतात्मभूतवाद की बात को समझें, इसकी गहराई में जाएं, अनुभूति करें। बिना परोक्षानुभव के इसे उपलब्ध करें। शंकराचार्य ने लिखा—‘अपरोक्षानुभव के बिना केवल ब्रह्म शब्द से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।’ हमारा सारा ज्ञान परोक्षानुभव है। इधर से कुछ लिया और जेब में डाल लिया। किसी ग्रन्थ से एक वाक्य लिया और स्मृति की पेटिका में रख लिया। वह स्मृति की पेटि ही काम कर रही है किन्तु यह परोक्षानुभव है। प्रत्यक्षानुभव के बिना ‘पापं कर्मं न बंधई’ की बात प्राप्त नहीं हो सकती। व्यक्ति से पाप तभी डरेगा जब सर्वभूतात्मभूतवाद का प्रत्यक्ष अनुभव होगा। यह प्रत्यक्षानुभव की बात बहुत कठिन है। यदि इस कठिन बात की साधना के लिए हमारी थोड़ी-सी चेतना जागे तो हम सर्वभूतानुभूति की रोशनी की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

ज्ञान बड़ा या आचार ?

शिष्य की जिज्ञासा

शीतकाल में घना कुहासा छाया रहता है। ऐसा ही कुहासा कभी-कभी मन में भी छा जाता है। कुहासे में सूर्य की रोशनी की, प्रकाश की रश्मि की आवश्यकता होती है। मन के कुहासे को लेकर शिष्य गुरु के पास पहुंचा। शिष्य ने निवेदन किया—गुरुदेव ! कोई कहता है—ज्ञान बड़ा है और कोई कहता है—आचार बड़ा है। इनमें कौन-सा प्रधान है ? दो दार्शनिक धाराएं हैं। एक है ज्ञानवादी धारा, वह आचार को महत्त्व नहीं देती। दूसरी धारा है आचारवादी, वह ज्ञान को महत्त्व नहीं देती। उसका मानना है—आचार ही सब कुछ है। ज्ञान से क्या होगा ? आप बताएं—सचाई क्या है ?

गुरु का समाधान

गुरु ने कहा—वत्स ! तुम इस विवाद में मत जाओ कि ज्ञान बड़ा है या आचार। दोनों ही समान हैं। न कोई मुख्य है और न कोई गौण—

ज्ञानं मुख्यं प्रभो ! यद् वा, मुख्य आचार उच्यते ।
द्वयोस्तुला न गौणत्वं, मुख्यत्वं कस्यचिद् भवेत् ॥

गुरुदेव ! दोनों समान कैसे हैं ?

वत्स ! ज्ञान के बिना आचार का और आचार के बिना ज्ञान का बहुत महत्त्व नहीं है—

ज्ञानमाचारशून्यं तु, पत्रादिविकलस्तद्वृत्तः ।
आचारो ज्ञानशून्यस्तु, मूलशून्यः स कल्पते ॥
ज्ञानं मूलं रसस्रोतः आचारः फलमिष्यते ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च, तथौदासीन्यमुच्छ्रितम् ॥

जो आचारशून्य ज्ञान है, वह पत्र, फल और फूल से रहित पेड़ जैसा है। ज्ञान है और आचार नहीं है, तो ज्ञान भी कोरा ठूठ बन जाएगा। जो आचार ज्ञानशून्य है, वह बिना जड़ के पेड़ जैसा है। यदि जड़ ही नहीं है तो पत्र, फल और फूल कहाँ से आएंगे ? इसलिए ज्ञान और आचार—दोनों को विभाजित मत करो।

एक फल : एक मूल

शिष्य ने जिज्ञासा की—गुरुदेव ! भगवान् महावीर ने कहा^१—

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।

अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिई छेयपावणं ॥

पहले ज्ञान है फिर आचार। अज्ञानी क्या करेगा ? वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप ?

जब ज्ञान प्रथम है तब वह मुख्य हो गया। आचार का नम्बर दूसरा है। क्या वह गौण नहीं है ?

गुरु ने कहा—वत्स ! हम न तो ज्ञानवादी हैं और न आचारवादी। हम उभयवादी हैं, ज्ञान और आचार—दोनों का समन्वय करते हैं। दोनों एक साथ चलते हैं। इन दोनों को तोड़ा नहीं जा सकता। न कोई प्रधान है और न कोई गौण। 'पढमं' कहने का अर्थ क्या है, इसे समझो। जो कहा गया है, उसमें गौणता और मुख्यता की बात नहीं है। यह कहा गया—पहले मूल होता है या फल ? पहले जड़ होती है। उसको पोषण अच्छा मिलता है, तो फल भी अच्छा मिलेगा। एक फल है और एक मूल—यह दोनों का सम्बन्ध है। इन्हें कभी अलग नहीं किया जा सकता।

पूरक हैं एक दूसरे के

तीन शब्द हैं—प्रमाण, प्रमाता और प्रमिति। प्रमिति का अर्थ है प्रमाण का फल—प्रमाणस्य फलं प्रमितिः। प्रमाण का फल क्या है ? प्रमाण के तीन फल हैं—हित में प्रवृत्ति, अहित से निवृत्ति और औदासीन्य। केवल ज्ञान का फल है औदासीन्य। केवल ज्ञान हो जाता है तब प्रवृत्ति-निवृत्ति की बात छूट जाती है। केवली के लिए आचार क्या रहा ? ज्ञान का फल है ज्ञप्ति। क्या हम यह कहें—जड़ बड़ी होती है और फल छोटा ? जड़ काम क्या आती है ? समाज फल को खाएगा या जड़ को खाएगा ? केला, संतरा आदि फल खाते हैं या इनकी जड़ को खाया जाता है ? हमारा सम्बन्ध होता है फल के साथ। इस दृष्टि से विचार करें तो बड़ा होगा आचार। एक व्यक्ति बहुत पढ़ा लिखा है, ज्ञानी है, पर आचारवान् नहीं है। वह परिवार में कलह करता रहता है। मां-बाप कहेंगे—इतना पढ़ा-लिखा, क्या काम आया ? क्या यही सीखा है ? उसका ज्ञान उपहास का कारण बन जाएगा।

ज्ञान और आचार—दोनों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि हम न आचार को प्रथम कह सकते हैं और न ज्ञान को प्रथम कह सकते हैं। न ज्ञान को गौण मान सकते हैं और न आचार को गौण मान सकते हैं। हमारी दृष्टि में दोनों बराबर हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रतिष्ठा का कारण

राजपुरोहित राजदरबार में बहुत सम्मानित और आदरणीय थे। राजा भी उन्हें सम्मान देता था। जब वे आते, तब राजा खड़ा होकर राजपुरोहित का सम्मान करता। राजपुरोहित ने एक प्रयोग किया। जब वे राजदरबार से घर गए, रास्ते में कोषागार आया। राजपुरोहित ने वहां से दो मोती उठा लिए। खजांची यह देखकर अवाक् रह गया। वह चिन्तित बन गया। दूसरे और तीसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। खजांची ने राजा को स्थिति से अवगत कराया। राजा ने जांच करवाई, सचाई सामने आ गई। दूसरे दिन राजपुरोहित दरबार में आए। राजा ने सम्मान नहीं दिया। राजपुरोहित समझ गए—दवा काम कर गई है। राजा ने पूछा—पुरोहितजी ! आपने मोती लिए ?

‘हां राजन् ! मैंने मोती लिए थे। मैं परीक्षा करना चाहता था।’

‘किस बात की परीक्षा ?’

‘राजन् ! मैं जानना चाहता था—ज्ञान बड़ा है या आचार ? मेरी जो पूजा-प्रतिष्ठा है, सम्मान है, वह ज्ञान के कारण है या आचार के कारण। मैंने यह परीक्षा करके देख लिया है—मेरा ज्ञान मेरे पास है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। अन्तर आया है आचार में। मेरे आचरण से आपकी भौहें तन गईं। मैंने समझ लिया—मेरी प्रतिष्ठा का कारण आचार है, ज्ञान नहीं।’

समन्वय का मार्ग

सामाजिक संदर्भ में हम विचार करें तो ज्ञान पीछे रह जाता है, आचार आगे आ जाता है। जहां समाज का प्रश्न है वहां आचार प्रधान बन जाता है। मनुस्मृति में कहा गया—आचारः प्रथमो धर्मः। दूसरी ओर यह भी कहा गया—ज्ञानं प्रथमो धर्मः। वस्तुतः ज्ञान और आचार—दोनों सापेक्ष हैं। जहां एक से दूसरे का सम्बन्ध स्थापित होता है वहां प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है आचार से और परोक्षतः सम्बन्ध होता है ज्ञान से। जहां आचार की उत्पत्ति का प्रश्न है वहां ज्ञान मुख्य हो जाता है। आचार आया कहां से ? आचार ज्ञान का फल है। इस अपेक्षा से ‘पढमं नाणं तओ दया’ का स्वर मुखरित हुआ। हम दोनों को अलग न करें। जो ज्ञान है, वही आचार है। जो आचार है, वही ज्ञान है। दशवैकालिक सूत्र में वनस्पति की दस अवस्थाएं बताई गईं, उनमें पहली अवस्था है बीज और दसवीं अवस्था है बीज। शेष आठ अवस्थाएं इन दोनों के मध्य में हैं। ज्ञान भी बीज है और आचार भी बीज है। इन दोनों के बीच हमारे जीवन की सारी श्रृंखला चलती है। न ज्ञान की प्रधानता और न आचार की प्रधानता, किन्तु दोनों का समन्वय है। यह समन्वय का मार्ग ही हमारे जीवन के लिए प्रशस्त बन सकता है।

काले कालं समायरे

आत्मा की प्रेक्षा के लिए दो समय बतलाए गए हैं—पूर्वरात्रि और अपररात्रि । सहज प्रश्न हो सकता है—ये दो ही क्यों बतलाए गए ? यह क्यों नहीं कहा गया—मध्याह्न में आत्मा को देखो, सांयकाल आत्मा का ध्यान करो । केवल दो समय का ही निर्देश क्यों दिया गया ? आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो, इस सूत्र में एक भी अक्षर अनावश्यक हो तो प्रश्न उठ जाता है ।

काल से बंधे हैं हम

सूत्र का मतलब है—सही सूचना देना । वैयाकरणों ने यहां तक मान लिया—एकमात्रालाघवेन वैयाकरणो पुत्रोत्सवं मन्यन्ते—एक मात्रा भी कम होती है तो वैयाकरण पुत्र-जन्म जैसा उत्सव मनाते हैं । सूत्र में आधी मात्रा भी अधिक नहीं होनी चाहिए । इस स्थिति में पूर्वरात्रि और अपररात्रि—ये दो निर्देश क्यों दिए ?

यह सूत्र सूचना देता है—हम काल से बंधे हुए हैं । हमारी सारी भावनाएं, सारी गतिविधियां एक चक्र के साथ चलती हैं । यदि कालचक्र को हम ठीक पकड़ नहीं पाते हैं तो हमारी सफलता में कमी रह जाती है । भगवान् महावीर ने कहा—मुनि समय पर बाहर जाए, समय पर लौट आए । वह अकाल का वर्जन करे । जो काम जिस समय करना हो, वह उसी समय करो—

कालेण णिक्खमे भिक्खु, कालेण य पडिक्कमे ।

अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे ॥

जीवन की लय

यह बहुत महत्त्वपूर्ण निर्देश है । प्राचीन साहित्य में इसकी अनेक व्याख्याएं हुई हैं । आज जैविक घड़ी के नाम से जो व्याख्या हुई है, वह बहुत ही अद्भुत है । जितनी स्वरोदय की व्याख्याएं हैं, वह उन सबको समर्थन दे रही है । यह हमारे जीवन की लय है । वैज्ञानिकों ने जीवन की लय पर बहुत लिखा है । हम उस लय के साथ-साथ चले तो बहुत अच्छा

काम हो सकता है। यदि लय के विपरीत चलें तो कार्य में गड़बड़ हो सकती है। इस जीवन की लय के बारे में सोचा गया तो पता लगा—इसका मतलब है ओज आहार की लय। इसका सम्बन्ध है ओज आहार से, हमारी प्राणधारा से।

काल से जुड़े प्रश्न

हमारी प्राणधारा सदा एक रूप नहीं बहती। ओज आहार भी अपना काम काल के साथ करता है (प्रातःकाल, मध्याह्न और सायं प्राणधारा का प्रवाह विभिन्न प्रकार का रहता है। इसका पता लगाया गया है—प्राण का प्रवाह किस समय किन अवयवों के साथ रहता है। पश्चिम रात्रि में तीन बजे से पांच बजे तक का जो समय है, उसमें प्राण का प्रवाह फेफड़ों के साथ रहता है। यह विभिन्न अवयवों के साथ बदलता रहता है। इसीलिए यह सुझाया जाता है—यदि दांत का दर्द है, दांत को निकलवाना है तो किस समय निकलवाओ, जिससे पीड़ा कम हो। आंख का इलाज कराना है तो किस समय कराओ। पेट की दवा लेनी है तो किस समय लो—ये सारे प्रश्न काल से जुड़े हुए हैं।

समान नहीं है समय

आयुर्वेद में उल्लेख है—औषधि लानी है तो किस नक्षत्र में, किस मुहूर्त में किस समय लाई जाए? किस अवयव के लिए दवा किस समय लेनी चाहिए। आयुर्वेद में इसका पूरा विवरण मिलता है। इस जीवन की लय पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया। इस आधार पर हम कह सकते हैं—चौबीस घंटा समान नहीं रहता। कार्य-दक्षता और भावना में उतार-चढ़ाव आता रहता है। इस आधार पर यह भी माना जा सकता है—प्रातःकाल अंतराय कर्म का क्षयोपशम कम होगा। पश्चिम रात्रि में मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ज्यादा होगा। कहा गया—ग्यारह बजे तक श्रमसाध्य काम नहीं करना चाहिए। मजदूर लोग भारी भरकम काम दोपहर बाद करते हैं तो ठीक होता है। यदि उसे प्रातःकाल करेंगे तो दिक्कत आ जाएगी।

इसका अर्थ है—उस समय शक्ति का विकास कम होता है, अंतराय कर्म का क्षयोपशम कम होता है। प्रातःकाल ज्ञानावरण का क्षयोपशम अच्छा होता है। यदि कुछ कंठस्थ करना है तो उसके लिए प्रातःकाल का समय उपयुक्त है। सोचने के लिए वह बहुत उपयुक्त समय नहीं है।

कर्म बंध और काल

एक व्यवस्था दी गई—

पढमं पोरिसि सज्भायं बीयं भाणं भियायई ।

पहले प्रहर में स्वाध्याय करो, दूसरे प्रहर में ध्यान करो

ये जो निर्देश दिए गए हैं, वे सूक्ष्मज्ञान पर आधारित हैं। जिन्होंने निर्देश दिए, वे अपने ज्ञान से जीवन की सारी क्रियाओं और समय को जानते थे। भावनात्मक स्थिति और कार्य-भ्रमता में अंतर आता रहता है। यह एक तथ्य है—आठ कर्मों का उदय या चार कर्मों का क्षयोपशम भी प्रतिदिन इस कालचक्र के साथ चलता रहता है। दर्शनावरणीय का उदय जितना रात को प्रबल होगा उतना अन्य समय में नहीं होगा। प्रत्येक कर्म का उदय काल के साथ बंधा हुआ होता है।

शान्त समय

हमारे जीवन से कई चक्र जुड़े हुए हैं—अयनचक्र, ऋतुचक्र, मासिक-चक्र और दैवसिकचक्र—दिन और रात का चक्र। हम दिन और रात के चक्र में जी रहे हैं। इस चक्र पर बहुत ध्यान दिया गया। चौबीस घंटे का समय एक समान नहीं रहता। गर्मी का मौसम है। यदि दिन में एक बजे माला जपने बैठेंगे तो उसमें मन नहीं लगेगा। पश्चिम रात्रि में शांत समय रहता है। उस समय हमारा तापमान भी न्यून रहता है। वह मन की एकाग्रता के लिए अच्छा समय है। विज्ञान मानता है—हमारे शरीर में दो प्रकार के रसायन हैं—सेलाटोनिन और मेलाटोनिन। जब सेलाटोनिन रसायन का स्राव होता है तब एकाग्रता अच्छी रहती है। प्रातःकाल तीन से पांच बजे का समय ध्यान और एकाग्रता के लिए श्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण है—वह सेलाटोनिन के स्राव का समय है।

दुघड़िया : जैविक घड़ी

हम सूक्ष्मता में जाएं। कर्म, प्राण प्रवाह, समय चक्र और स्वरोदय—इन चारों को सामंजस्य करके देखें तो हम प्रत्येक कार्य के लिए ठीक समय का निर्धारण कर सकते हैं। कौन सा समय हमारे लिए उपयुक्त है और कौनसा अनुपयुक्त—इसका निश्चय कर सकते हैं। ज्योतिष को जानने वाले दुघड़िया देखते रहते हैं। कौनसा दुघड़िया चल रहा है? शुभ का चल रहा है या लाभ का चल रहा है? अच्छा है या बुरा है? हमारी जैविक घड़ी दुघड़िया है। इसे स्वरोदय कह दें या कालचक्र कह दें।

जरूरी है समय का बोध

इनका मूल हृदय यही है—जिस समय जो काम करना उचित है उस समय वही काम करना चाहिए। इस निर्देश को हम ठीक समझ लें तो हमारी क्रियाएं बदल जाएंगी। चिन्तन मनन के लिए दो से चार बजे तक का समय सबसे उचित माना गया है। जिस समय पेट पर प्राण का प्रवाह होता है, वह आहार का समय माना गया है। आठ से नौ बजे तक पेट पर प्राण का प्रवाह होता है। अगर उससे पहले ठूस-ठूस कर खाना खाया जाता

है तो वह उपयोगी नहीं होता। पेट पर प्राण का प्रवाह नहीं है और बहुत खा लिया जाए तो उसका सम्यग् पाचन कैसे होगा ? प्राण का प्रवाह आंतों को सहयोग नहीं देगा। उसके सहयोग के बिना पाचन क्रिया कितनी सही होगी ?

सामान्य व्यवहार के लिए भी समय चक्र को जानना जरूरी है। इस सन्दर्भ में सूक्ष्म नियम न भी जानें पर कुछ स्थूल बातें अवश्य जाननी चाहिए। किस समय भोजन करना चाहिए ? किस समय पढ़ना चाहिए ? किस समय चिन्तन करना चाहिए ? किस समय सोना चाहिए ? इन सबके उचित समय का बोध शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी है।

काल-प्रतिलेखना

काल-प्रतिलेखना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—काले कालं समायरे। यह जीवन-चर्या का सूक्ष्म निरीक्षण है। इन आठ अक्षरों में जीवन का दर्शन समया हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह बहुत मूल्यवान् है। हम इस सूत्र का रहस्य समझें, हमारा शारीरिक क्रम ठीक चलेगा। मानसिक एवं भावात्मक क्रम सम्यग् बन जाएगा। इस बात पर बहुत ध्यान दिया गया—किस समय भावनाओं का उतार-चढ़ाव ज्यादा होता है। किसी व्यक्ति से महत्त्वपूर्ण बात किस समय करनी चाहिए। रहस्य की बात किस समय करनी चाहिए। भावना के उतार-चढ़ाव के सन्दर्भ में ये सारे निर्देश दिए गए। जैन साहित्य में काल-प्रतिलेखना को बहुत महत्त्व दिया गया है। जो समय की सूचना देने वाला होता, उसे काल-प्रतिलेखक के रूप में एक अलग स्थान दिया जाता। वह समय-समय पर नक्षत्रों या अन्य पद्धतियों के आधार पर काल की सूचना देता रहता था।

समय का अंकन

जीवन की सफलता का सूत्र है—समय का अंकन। यह बहुत सीधी बात है पर हम उसका अंकन कैसे करें ? समय का अंकन तब होगा जब उसका ठीक बोध होगा। जितना अच्छा समय का अंकन होगा, जितनी सम्यग् काल-प्रतिलेखना होगी, जितना करणीय कार्य यथासमय किया जाएगा, उतना ही जीवन-क्रम अच्छा चलेगा, जीवन की सारी क्रियाएं व्यवस्थित रूप से चलेंगी। जीवन का क्रम अव्यवस्थित नहीं होगा तो बुढ़ापा जल्दी नहीं आएगा। जैविक घड़ी में अव्यवस्था होती है तो बुढ़ापा जल्दी आता है, और भी अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। समस्या से मुक्ति का सूत्र है—समय का महत्त्व समझें, काल का मूल्यांकन करें, समय को व्यर्थ न खोएं, जिस समय जो करणीय है, उस समय वही करें। जो इस सूत्र को हृदयंगम कर लेता है, वह समस्याविहीन जीवन का सूत्र पा लेता है।

भाषा-विवेक के छह सूत्र

पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां—ये सम्पर्क के माध्यम हैं। एक से दूसरा होना, समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करना इनसे ही संभव बनता है। यदि कान नहीं होते, जीभ नहीं होती तो प्रत्येक आदमी अकेला रहता, समाज नहीं बनता। व्यक्ति आंख से किसी को देखता है किन्तु उससे संपर्क सूत्र नहीं जुड़ता। संपर्क का सबसे बड़ा माध्यम है वाणी। कान और जीभ। जो व्यक्ति कान से सुनता है, उसके लिए दुनिया का अर्थ है। जो नहीं सुनता, उसे कैसा लगता होगा। जिसके आंख और कान—दोनों ही न हों तो वह एकदम निर्जीव पत्थर जैसा बन जाएगा।

विकास का साधन

आज विकास का सबसे बड़ा साधन माना गया है—कम्प्युनिकेशन। एक दूसरे का संचार ठीक होना चाहिए। जब संचार और संवाद ठीक नहीं मिलता है तब समस्याएं उलझ जाती हैं। संप्रेषण का एक माध्यम है कान और दूसरा माध्यम है भाषा। इसी को श्रुत कहा गया। श्रुत की प्रक्रिया भी कम्प्यूटराइज्ड चलती है। एक व्यक्ति के मन में कोई भाव उठा। वह उसे दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाएगा तो कितना समय लगेगा। भाषा बाहर आएगी, वह उस भाव को दूसरे तक पहुंचाएगी। कहीं द्रव्य श्रुत और कहीं भाव श्रुत। कितने सारे तत्त्व मिलते हैं तब एक बात सुनी और समझी जाती है। इसकी लम्बी प्रक्रिया है। एक व्यक्ति अपने भावों को दूसरों तक पहुंचा सके, तब श्रुत होता है। छींक और डकार को भी श्रुत माना गया है। संकेत को भी श्रुत माना गया है। इनके द्वारा भी हम अपनी बात पहुंचा देते हैं। अंगुली भी श्रुत होती है किन्तु ये बहुत अव्यक्त होते हैं।

भाषा की समस्या

श्रुत का सबसे शक्तिशाली माध्यम बनता है भाषा। इसके साथ यह समस्या भी है—भाषा जितनी लाभदायक है उतनी ही खतरनाक हो सकती है। एक शब्द ऐसा निकल जाए तो महाभारत बन जाता है, रामायण बन जाती है। इसीलिए कहा गया—शक्ति का सम्यग् उपयोग करो। शक्ति के दोनों पहलू होते हैं। वह तारक भी होती है, मारक भी होती है। शक्ति का ठीक उपयोग किया जाए तो वह अभिनव सृजन का हेतु बन जाती है।

समाज संरचना में इसकी महती भूमिका है। हम इसका उपयोग कैसे करें ? इस उपयोग को जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने नए-नए आयाग दिए हैं। जैन दर्शन में भाषा के बारे में जितना सूक्ष्मता से चिन्तन किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। वैसे तो प्रत्येक धर्म में वाणी के संदर्भ में विचार किया गया है। नीतिशास्त्र में कहा गया—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियं—सच बोलो, प्रिय बोलो पर ऐसा सत्य मत बोलो, जो अप्रिय हो।

अनेकांत का प्रयोग

इस प्रकार वाणी के कुछ निर्देश मिलते हैं किन्तु जैन दर्शन में वाणी के संदर्भ में कुछ नए निर्देश हैं।

आग्रहो नैव नो माया, नो हिंसा नाहितं भवेत् ।

नो निश्चयः संदिहाने, परीक्षासौ वचो गता ॥

भाषा में आग्रह और माया नहीं होनी चाहिए वह अहिंसक और हितकारी होनी चाहिए, निश्चयात्मक और अपरीक्षित नहीं होनी चाहिए।

पहला निर्देश है अनेकांत का। बोलो तो अनेकांत के साथ बोलो। आग्रह की भाषा में मत बोलो। यदि कोई अपने लेखन और वस्तुत्व को अच्छा बनाना चाहे तो उसे अनेकांत का आलंबन अवश्य लेना चाहिए। इससे वस्तुत्व और लेखन की शैली बहुत परिष्कृत हो जाएगी। जो एकांत भाषा में बोला या लिखा जाता है, वह बहुत काम्य नहीं होता। अनाग्रह की भाषा बहुत काम्य होती है। विदेशी लेखकों ने जाने अनजाने अपनी लेखनी में अनेकांत का बहुत प्रयोग किया है। उनके लेखन में बहुत विनम्रता है, आग्रह और पकड़ कहीं भी नहीं झलकती है। उनकी अभिव्यक्ति बहुत ही कमनीय, सौम्य और अनाग्रहपूर्ण होती है। वस्तुतः ऐसी पकड़ होनी नहीं चाहिए, जिसमें लचीलापन न रहे। अनेकांत में अनाग्रह होता है, लचीलापन होता है, पकड़ नहीं होती। अपनी बात भी कह दी जाती है और सामने वाले को भी कष्ट नहीं होता।

अनाग्रह की भाषा : निदर्शन

भाषा का पहला विवेक है अनेकांत का प्रयोग। हम भाषा में अनेकांत या अनाग्रह का प्रयोग करें तो उलझन नहीं आएगी, वह किसी के लिए कष्टदायी नहीं होगी। कुछ लोग आचार्य भिक्षु के पास आए। उन्होंने कहा—महाराज ! आप बुद्धिमान् हैं, आपमें तार्किक शक्ति है, आप विलक्षण हैं, सब कुछ ठीक है। यदि आप एक काम करें, वस्त्रों को छोड़ दें, तो कितना अच्छा हो जाए। आप दिगम्बर परम्परा को स्वीकार कर लें तो हजारों-हजारों लोगों का कल्याण हो जाए। इस प्रश्न का सीधा उत्तर दिया जा सकता था

किन्तु आचार्य भिक्षु आग्रह की भाषा में नहीं बोलते थे । उन्होंने विभज्यवादी शैली में अनेकांत का अधिकतम प्रयोग किया । एक अर्थ में आचार्य भिक्षु को विभज्यवादी शैली का प्रवक्ता कहा जा सकता है । आचार्य भिक्षु ने कहा— मैंने श्वेताम्बर भागमों के आधार पर मुनित्व स्वीकारा है । मेरा श्वेताम्बर आगमों में विश्वास है । यदि मेरा विश्वास बदल जाए तो मुझे दिग्म्बर बनने में कोई कठिनाई नहीं है । उस दिन मैं वस्त्र छोड़ सकता हूँ ।

यह अनाग्रह की भाषा है । आग्रह की भाषा में दिया जाने वाला उत्तर शालीन भाषा का उत्तर नहीं हो सकता । वह एक प्रतिक्रिया पैदा करता है । अनेकांत की भाषा प्रतिक्रिया पैदा नहीं करती किन्तु सामने वाले व्यक्ति को सोचने के लिए विवश करती है । वह भाषा अच्छी होती है, जिसमें सामने वाले को सोचने के लिए बाध्य होना पड़े । वह भाषा अच्छी नहीं होती, जिसमें व्यक्ति को सोचने का मौका ही न मिले और प्रतिक्रिया में समस्या उलभ जाए ।

माया का प्रयोग न हो

भाषा का दूसरा विवेक है—वाणी में माया का प्रयोग न हो । छलना और वंचनापूर्ण वाणी एक हितैषी व्यक्ति के लिए अच्छी नहीं होती । जो व्यक्ति अपनी बात को सरलता से कहता है, वह समाज में आदरास्पद होता है । जो माया या प्रवंचना करता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता । भगवान् महावीर ने कहा—वाणी के साथ माया का प्रयोग कभी मत करो ।

उपघातकारिणी न हो

भाषा का तीसरा विवेक है—हिंसा युक्त वाणी का प्रयोग मत करो । जो बात सत्य है उसका भी प्रयोग मत करो यदि दूसरा उससे उपहत होता है । दूसरों के प्राणों को आघात पहुंचे, वैसे सत्य का भी प्रयोग मत करो । उपघातजनक वाणी का प्रयोग श्रेयस्कर नहीं होता—^१

तहेव फरसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥

हितकारिणी हो भाषा

भाषा का चौथा विवेक है—वाणी ऐसी बोलनी चाहिए, जिससे दूसरों का हित हो, अहित न हो । अहितकारी बात नहीं बोलनी चाहिए—^१

एण्णनेण वट्ठेण, परो जेणुवहम्मई ।

आयारभावदोसन्नु, न तं भासेज्जपन्नवं ॥

जहां एक सामान्य बात से दूसरे का अहित हो जाता है वहां मौन रहना

१. दसवआलियं ७/१

२. दसवेआलियं ७/१३

चाहिए । बहुत लोग मौन का अभ्यास करते हैं । यह संकल्प होना चाहिए—जहां कलह होता हो, लड़ाई का प्रसंग हो, वहां मैं मौन रहूंगा ॥ मेरी दृष्टि में यह मौन का सबसे सुन्दर सकल्प है । जहां बोलने से दूसरे का अहित होता है, वहां जो मौन करता है, उसने मौन का अर्थ समझा है ।

निश्चयकारिणी भाषा न बोलें

भाषा का पांचवां विवेक है—जो संदिग्ध अर्थवाली हो, वह भाषा न बोलें । जैन मुनि किसी भी कार्य के संदर्भ में कहते हैं—मेरा अमुक कार्य करने का भाव है । यह विवेक भाषा को नया स्वरूप देता है—कल करने का भाव है । निश्चयकारिणी भाषा में न बोलें । काम करने की इच्छा है, करना चाहता हूं पर यह न कहें कि मैं ऐसा करूंगा । निश्चय भाषा बोली जाए और वह काम न हो पाए तो भाषा का विवेक आहत होता है ।

परीक्षा करके बोलें

भाषा का छठा विवेक है—परीक्षा करके बोलें । तर्कशास्त्र में परीक्षा का अर्थ किया गया—बलाबलनिर्णयः परीक्षा । न्याय के द्वारा, तर्क और हेतु के द्वारा बल-अबल का परीक्षण कर लेना, इसका नाम है परीक्षा । प्रत्येक व्यक्ति को बोलने से पहले परीक्षा कर लेनी चाहिए । तोलकर बोले । ऐसा न हो, हमारा बोलना हमारे व्यक्तित्व की गरिमा को घटाने वाला बन जाए । व्यक्तित्व की जितनी पहचान वाणी के द्वारा होती है उतनी अन्य साधनों से कम होती है ।

व्यक्तित्व को पहचानने के अनेक माध्यम बतलाए गए हैं । पैरों के निशान से, हाथ और मस्तक की रेखाओं से व्यक्तित्व की पहचान होती है । आंखों की पुतलियों से भी पहचान होती है । इन सबमें सबसे सशक्त पहचान का माध्यम है—भाषा, वाणी । जो परीक्ष्यभाषी होता है उसका व्यक्तित्व महान् बन जाता है । वाणी के द्वारा व्यक्तित्व की अच्छी पहचान होती है । व्यक्ति कैसे बोलता है ? उसकी भाषा क्या है ? इसके द्वारा आदमी पहचाना जा सकता है ।

भाषा-विवेक का प्रयोग करें

दशवैकालिक सूत्र का एक अध्ययन है—'वक्कसुद्धि'—'वाक्यशुद्धि' । प्रज्ञापना सूत्र का एक प्रकरण है भाषापद । जिस व्यक्ति ने अनेकांत को गहराई से समझा है, दशवैकालिक में प्रतिपादित भाषा विवेक का अनुशीलन किया है, प्रज्ञापना के भाषापद का अर्थ समझा है, वह व्यक्ति अपने भाषा विवेक से अपना व्यक्तित्व निखार लेगा । इतना ही नहीं, दूसरे के व्यक्तित्व को भी पहचान लेगा । व्यक्ति कैसा है ? उसका सहज व्यक्तित्व खुली किताब की भांति सबके सामने आ जाता है । भाषा के द्वारा व्यक्ति को समझने में

बड़ी सुविधा होती है। हम भाव विवेक, भाषा विवेक और अनेकांत के प्रयोग के द्वारा वाणी की शैली को अनाग्रहपूर्ण और आदरणीय बना सकते हैं। सामाजिक जीवन में मैत्री, पारस्परिक सौहार्द, पारस्परिक समझ—ये सब बातें भाषा विवेक के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। जो भाषा के विवेक को समझ लेता है, वह अपने व्यक्तित्व के विकास का रहस्य-सूत्र समझ लेता है। हम भाषा विवेक का अध्ययन-अनुशीलन करें, प्रयोग करें, हमारे सामने जीवन का नया आयाम प्रस्तुत होगा।

सब कुछ कहा नहीं जाता

वक्तव्य : अवक्तव्य

दो शब्द बहुत प्रचलित हैं वक्तव्य और अवक्तव्य । दर्शनशास्त्र में ये दोनों शब्द बहुत चर्चित हुए हैं । वेदान्त ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानता है । जैन दर्शन के अनुसार कोई भी पदार्थ वक्तव्य नहीं है । बुद्ध ने दस धर्मों को अव्याकृत बतलाया । इसका अर्थ एक ही है—कहा नहीं जा सकता । जो अवक्तव्य है, उसे कहा नहीं जा सकता । दार्शनिक क्षेत्र में वेदान्त का ब्रह्म निरपेक्ष है । निरपेक्ष सत्य कभी वचनीय नहीं होता । इसीलिए वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया । जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ अनंतधर्मा है । कोई भी शब्द ऐसा नहीं है, जो अनंत धर्मों को एक साथ कह सके । इसीलिए कहा गया—पदार्थ अवक्तव्य है । भगवान् बुद्ध ने साधना की दृष्टि से कहा—यह जितना तत्त्ववाद है, वह व्यक्ति को उलझाने वाला है । केवल आर्य सत्यों की साधना करो, उन्हें जानो । इन तात्त्विक उलझनों में पड़ने से कोई फायदा नहीं है । ये सब अव्याकृत हैं । इनका व्याकरण नहीं किया जा सकता ।

गोपनीयता की शपथ

व्यवहार के क्षेत्र में भी अवक्तव्य का प्रयोग होता है । उसमें अवक्तव्य का अर्थ यह नहीं है कि कहा नहीं जा सकता । जहां मूल्यों की बात होती है वहां कहना चाहिए या नहीं चाहिए—यह भाषा भा जाती है । कहा जाता है—अमुक बात को कहो मत, फैलाओ मत, वह अवक्तव्य है । यहां अवक्तव्य का अर्थ बदल जाता है, वह आचार बन जाता है । व्यवहार के क्षेत्र में अवक्तव्यता का बहुत महत्त्व है । जो व्यक्ति बड़े पद पर जाता है, लोकसभा या राज्यसभा में जाता है, राष्ट्रपति, राज्यपाल या मंत्री बनता है, उसे पद और गोपनीयता की शपथ दिलाई जाती है । इसका अर्थ है—जो बात गोपनीय है, उसे प्रकाशित न करे । जो राष्ट्र के गोपनीय तथ्य हैं, उन्हें सार्वजनिक नहीं किया जा सकता । वे अवक्तव्य रहेंगे । एक साधु के लिए भी, जो संघ का सदस्य होता है, गोपनीयता रखना अनिवार्य होता है । वह हर किसी बात को प्रकाशित नहीं कर सकता ।

संबंध है संवेग से

बहुत महत्त्व है अवक्तव्य का। दर्शन के क्षेत्र में अवक्तव्य चल सकता है पर व्यवहार के क्षेत्र में वह बड़ी समस्या है। पता नहीं मनुष्य की कैसी मनोवृत्ति है कि उससे बात कहे बिना रहा नहीं जाता। एक ओर कहा गया—सब कुछ कहा नहीं जा सकता, दूसरी ओर समस्या यह है—कहे बिना रहा नहीं जाता। वक्तव्य और अवक्तव्य के पीछे जो काम करता है, वह है हमारा आवेश। जब आवेश प्रबल बनता है तब अवक्तव्य कहां टिक पाएगा? जो व्यक्ति अपने आवेग-आवेश का संवरण करना जानता है, सीमा करना जानता है, उसके लिए वक्तव्य और अवक्तव्य की सीमा बन जाती है। वाणी के साथ मूल संबंध है संवेगों का, आवेश और इमोशन्स का। जिसने आवेग-आवेश पर नियंत्रण का सिद्धान्त सीखा है, उसके लिए अवक्तव्य का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण होगा। जिसने नियंत्रण करना नहीं सीखा, उसके लिए अवक्तव्य की बात समाप्त हो जाती है। जब कभी दंगा-फसाद होता है तब यह प्रचार किया जाता है—अफवाहों पर ध्यान न दें। ऐसी विचित्र अफवाहें फैलाई जाती हैं, जिनके सिर-पैर नहीं होता। अफवाहें वे लोग फैलाते हैं, जिनका अपने आवेगों पर नियंत्रण नहीं होता।

वक्तव्य की मर्यादा

महत्त्वपूर्ण निर्देश है—सब कुछ कहो मत। एक स्थिति यह है—सब कुछ नहीं जानते इसीलिए कहो मत। आचारशास्त्र का विधान है—सब कुछ जानते हो फिर भी सब कुछ कहा नहीं जा सकता। कितना कहो, कब कहो, कहां कहो, कैसे कहो, क्या कहो? ये सब बातें हमारे लिए मननीय हैं। कितना कट्टे, इसका विवेक जरूरी है। हमने जो सुना है, वह इतना है कि पांच पृष्ठ भर जाए पर कहना कितना चाहिए। उसमें कहने की बात केवल पांच पंक्तियां ही हो सकती हैं। शेष सबको हजम कर लो, पचा लो। कब कहें, इसका भी बहुत महत्त्व है। उपयुक्त समय पर ही कोई बात कही जा सकती है। कहने का तरीका भी होना चाहिए। ये सारी मर्यादाएं वक्तव्य के साथ जुड़ी हुई हैं। इन मर्यादाओं को समझे बिना अवक्तव्य के सिद्धान्त की सम्यग् अनुपालना नहीं हो सकती।

भिक्षु की मर्यादा

मुनि के लिए एक बहुत बड़ा विवेक दिया गया—मुनि कानों से बहुत सुनता है, आंखों से बहुत देखता है किन्तु सब देखे और सुने को कहना उचित नहीं है^१—

१. दसवेअलियं ८।२०

बहुं सुणेइ कण्णेहं, बहुं भच्छीहिं पेच्छइ ।
न य विट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अवखाजमरिहइ ॥

मुनि गृहस्थ नहीं है । उसने मर्यादा को स्वीकार किया है । वाक्-संयम और भाषा समिति का पालन उसका धर्म है । उसके लिये ये निर्देश महत्त्वपूर्ण हैं—वचन गुप्त करो, बोलो मत । यदि बोलना जरूरी है तो भाषा समिति से बोलो, परीक्ष्यभाषी होकर बोलो । भिक्षु के लिए यह मर्यादा है—किसी बात को कानों से सुना है, किसी बात को आंखों से देखा है तो वह उसे प्रगट कर दे । यह बात बहुत काम की है ।

छलकती है गगरी

गगरी छलके बिना रहती नहीं है । समुद्र भरा होता है, उससे खतरा नहीं होता । समुद्र में ज्वार आता है पर वह भी मर्यादा के साथ आता है । सागर की सी गंभीरता जीवन में आती है तब बड़प्पन आता है । सागर के समान गंभीर बनने के लिए यह निर्देश दिया गया—अवक्तव्य का मूल्यांकन करो । सागर और गगरी में बहुत फर्क होता है । जो सागर के समान होता है, वह गंभीर होता है, देखी सुनी बातों को पचाने में समर्थ होता है । जो गगरी के समान होता है, वह छिछली मनोवृत्ति का होता है, वह देखी या सुनी बात को लम्बे समय तक पचा नहीं सकता ।

जरूरी है अवक्तव्य का बोध

व्यवहार और आचार के क्षेत्र में अवक्तव्य की सीमा का बोध जरूरी है । कितना वक्तव्य है और कितना अवक्तव्य है ? क्या वक्तव्य है और क्या अवक्तव्य है ? यह भेद समझना जरूरी है । दर्शन के क्षेत्र में अवक्तव्य है पदार्थ क्योंकि वह अनन्त धर्मात्मक है । भाषा उसके समस्त अंशों का एक प्रतिपादन नहीं कर सकती । आचार के क्षेत्र में जो दृष्ट है, श्रुत है, वह भी अवक्तव्य है । यह आचार मीमांसा के क्षेत्र में उपयोगी है ।

अवक्तव्यः पदार्थश्चानंतधर्मात्मको यतः ।

एतत् पदार्थमीमांसाक्षेत्रे व्यवहृतं भवेत् ॥

अवक्तव्यमिदं दृष्टं, श्रुतं सर्वं न कथ्यताम् ।

एतदाचारमीमांसा क्षेत्रे स्यादुपयोजितम् ॥

जब यह अवक्तव्य की सीमा समझ में आएगी तब साधुता जीवन में अवतरित होगी । यह बोध केवल एक भिक्षु के लिए ही नहीं, एक सामान्य व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है । जो व्यक्ति वक्तव्य और अवक्तव्य की सीमा को नहीं समझता, वह बड़ा अनर्थ कर देता है । इस प्रकार की मनोवृत्ति वाला इन्द्रजाल जैसा घटित कर देता है । इससे

दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी खतरा बन जाता है। इस इन्द्रजाली भय और आतंक से तभी बचा जा सकता है, जब अवक्तव्य की मर्यादा का बोध होता है। व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन की स्वस्थता और पवित्रता का यह अमोघ मंत्र है।

देहे दुखं महाफलं

एक नया दर्शन, जो इसी शताब्दी के आसपास प्रगटा है, उसका नाम है अस्तित्ववादी दर्शन । इसे जैन दर्शन और अनेकांत के सन्दर्भ में पढ़ा जाए तो ऐसा लगेगा—इसमें कोई नई बात नहीं है । किन्तु यह पश्चिमी जगत् में बहुत चर्चित हो रहा है । इसका मूल आधार है—हम अस्तित्व से बहुत दूर चले गए हैं, वास्तविकता से दूर चले गए हैं । भौतिकता या पदार्थ की बहुलता के कारण हमने अपने अस्तित्व को भुला दिया है । हमारी अपनी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है । हमें अपने अस्तित्व को पहचानना है, अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना है, इन बन्धनों से दूर रहना है आदि-आदि अस्तित्ववादी दर्शन के प्रत्यय हैं । जो मोक्षवादी या आत्मवादी हैं, उनके लिए ये कोई नई बातें नहीं हैं ।

तीन मूल्य

अस्तित्ववादी दर्शन के विद्वान् फ्रॉब्ले ने तीन प्रकार के जीवन मूल्यों का प्रतिपादन किया—

१. रचनात्मक मूल्य
२. प्रयोगात्मक मूल्य
३. अभिवृत्त्यात्मक मूल्य

पहला मूल्य है—व्यक्ति का दृष्टिकोण रचनात्मक होना चाहिए । दूसरा मूल्य है—प्रयोगात्मक—अपनी स्वतन्त्रता के लिए विविध प्रकार के प्रयोग करना । तीसरा है निर्भय होकर, साहस के साथ कठिनाइयों को भेलना । अस्तित्व तक पहुंचना है तो साहस के साथ समस्याओं को सहना जरूरी है । जो अपना विकास चाहता है, अस्तित्व का विकास चाहता है, वह अपने अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकता ।

व्यापक धारणा

अस्तित्ववाद का एक सूत्र यही है—तुम क्या बनना चाहते हो । हम जैसा बनना चाहते हैं, वैसा बन सकते हैं । हमारी शक्ति है, सामर्थ्य है, इसीलिए हम अपना इच्छित निर्माण कर सकते हैं । यह तथ्य है—जो व्यक्ति कुछ बनना चाहता है, चित्त समाधि चाहता है, उसे बदलना होगा, समस्याओं और कठिनाइयों को भेलना होगा ।

अस्तित्ववादी दर्शन के सन्दर्भ में इस सूक्त 'देहे दुःखं महाफलं' को पढ़ें तो यह अभिवृत्त्यात्मक मूल्य का सूत्र है। शरीर में जो दुःख पैदा हो, उस दुःख को भेदना। इस सूत्र के आधार पर एक गलत अर्थ भी हो गया। जैन और जैनेतर लोगों की एक धारणा बन गई—शरीर को कष्ट देना भी धर्म है। यह व्यापक धारणा है, किन्तु यह बात संगत नहीं है।

क्रिया का आधार

वस्तुतः कोई भी क्रिया उद्देश्य और लक्ष्य के आधार पर होती है। यदि हमारा लक्ष्य दुःख पाना है तो दुःख देना धर्म हो सकता है। यदि हमारा लक्ष्य दुःख पाना नहीं है तो दुःख देना धर्म नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य है मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है—अनन्त आनन्द। वह अव्याबाध है। उस आनन्द में कोई बाधा नहीं आती। यदि तराजू के एक पल्ले में मोक्ष के सुख को रखा जाए और दूसरे पल्ले में दुनिया के सारे सुखों को केन्द्रीभूत कर रखा जाए तो भी मोक्ष के सुख का पलड़ा बहुत भारी रहेगा। जिसका लक्ष्य इतना बड़ा सुख पाना है, वह दुःख देने को धर्म कैसे मान सकता है? बात कुछ और थी, समझ लिया गया कुछ और। यह विपर्यय हो गया।

सताना पाप है

कहा गया—सुख पाने के पथ पर चलो। उसमें यदि कोई बाधा आए तो उसे समभाव से सहन करो। उसे नहीं भेलोगे तो आगे नहीं बढ़ पाओगे। इसका अर्थ यह मान लिया गया—शरीर को दुःख देना धर्म है। यह बात स्पष्ट होनी चाहिए—शरीर को दुःख देना धर्म नहीं है, दुःखों को सहन करना धर्म है।

दूसरे को सताना या अपने आपको सताना—दोनों ही पाप हैं। शरीर को सताना नहीं है किन्तु अपने लक्ष्योन्मुख मार्ग पर चलना है। उस मार्ग में जो बाधा या रुकावट आए, उसे पार करना है इसीलिए कहा गया—भूख, प्यास, शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। शरीर में जो कष्ट होता है, उसे सहन करना महान् धर्म है—

खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं ।

अहियासे अव्वहिओ, देहे दुःखं महाफलं ॥

कष्ट और निर्जरा

एक प्रश्न है—कर्म का बन्ध किसके होता है? स्थूल शरीर के होता है या सूक्ष्म शरीर के। कहा गया—कर्म का बन्ध होता है सूक्ष्मतर शरीर, कर्म शरीर के। सूक्ष्मतर शरीर के बाद है तँजस शरीर और तँजस शरीर के

बाद है औदारिक शरीर (स्थूल शरीर) । हम उपवास करेंगे तो निर्जरा कैसे होगी ? उपवास कोई करे और प्रभावित कोई हो, यह कैसे संभव है ? हमारे सामने गहन प्रश्न है—खाना नहीं खाया स्थूल शरीर ने और क्षीण हुआ कर्मशरीर । यह कैसे होगा ? कर्मशरीर अपना काम कर रहा है और औदारिक शरीर अपना काम कर रहा है । कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो दोनों को जोड़ रहा है । आगम का वचन है—एक सम्यग् दृष्टि ने उपवास किया । उसके निर्जरा अधिक होगी और कष्ट कम । एक मिथ्या दृष्टि ने उपवास किया । उसके कष्ट अधिक होगा और निर्जरा कम । यह कैसे होगा ? यदि कष्ट सहने से ही महान् फल मिलता तो पेड़ों को बहुत लाभ मिलता । ये पेड़ बर्फीली सर्दी में रात भर ठण्ड सहन करते हैं । भयंकर सर्दी में पशु, पक्षी, आदि खुले विचरते हैं । न जाने इनके कितनी निर्जरा होती होगी ।

भावना का मर्म

हम इन प्रश्नों के सन्दर्भ में चिन्तन करें, हमारे सामने कुछ बिन्दु स्पष्ट होंगे । एक बिन्दु यह है—निर्जरा का प्रमुख कारण है कर्म शरीर को प्रभावित करना, प्रकम्पित करना । कर्म शरीर को प्रभावित कौन करता है ? स्थूल बात वहाँ तक पहुँचती नहीं है । मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो कहा जाएगा—सूक्ष्म तत्त्व अवचेतन मन को प्रभावित करता है, स्थूल तत्त्व उसे प्रभावित नहीं करता । जब हमारा सजेशन भीतर की गहराई तक पहुँच जाता है, तब वह अवचेतन को प्रभावित करता है । सतही स्तर पर वह प्रभावित नहीं होता । वह केवल उच्चारण मात्र से प्रभावित नहीं होता । उसे प्रभावित करने वाला तत्त्व है भावना । उसमें यह शक्ति है कि वह भीतर तक चली जाती है और कर्मशरीर को प्रकम्पित कर देती है । वह कर्म शरीर को धुन डालती है—**धुणे कम्मशरीरं** । जिस व्यक्ति ने भावना का प्रयोग किया है, भावना के मर्म को समझा है, उसके वेदना कम होगी और निर्जरा अधिक । जिस व्यक्ति ने भावना के मर्म को नहीं समझा, उसके वेदना ज्यादा होगी और निर्जरा कम ।

सेतु है तैजस शरीर

उपवास के संदर्भ में यही बात है । जब हम उपवास करते हैं तब ताप पैदा होता है, ऊर्जा बढ़ती है, गर्मी बढ़ती है इसीलिए इसका नाम ही तपस्या रखा गया । जो सप्त धातुमय शरीर को तपाता है, उसका नाम है तप । उपवास तपाने की प्रक्रिया है । तपस्या के जो बारह प्रकार हैं, उनसे ताप बढ़ेगा, ऊर्जा बढ़ेगी । वही ऊर्जा सूक्ष्म शरीर तक जाकर चोट करेगी । वह चोट स्थूल शरीर नहीं करेगा । माध्यम बनता है तैजस शरीर । कर्मशरीर

के आदानों-अवदानों को बाहर पहुँचाता है तँजस शरीर और स्थूल शरीर के सारे अवदानों को भीतर ले जाता है तँजस शरीर। यह तँजस शरीर—विद्युत् शरीर एक सेतु बना हुआ है। यह तँजस शरीर ही तपस्या से प्राप्त ऊर्जा को भीतर ले जाकर चोट करता है कर्मशरीर पर। जब कर्मशरीर पर चोट होगी तब कर्म प्रकंपित होंगे, कर्मों की निर्जरा होगी। यह है निर्जरा की प्रक्रिया।

सहने का अभ्यास करें

शरीर में आने वाले कष्टों को हम समभाव से सहते हैं, इसका तात्पर्य है—भावना के साथ सहन करते हैं। निर्जरा के दो भेद किए गए—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। कष्ट सहा और भावना पूरी नहीं है तो ताप पैदा होगा पर निर्जरा अल्प होगी, मूल्यवान् निर्जरा नहीं होगी। यदि उसके साथ भावना की शक्ति जुड़ी हुई है तो मूल्यवान् निर्जरा होगी। भावना ऐसी शक्ति पैदा करती है कि संचित कर्मों की एकदम सफाई हो जाती है। शरीर में आए हुए कष्टों को सहना, उसमें समभाव रखना जरूरी है। जो इतना सहन कर लेता है, वह महान् फल प्राप्त करता है। जैन परम्परा में यह विशेष बात है कि उसमें कष्टों को सहन करने का अभ्यास कराया जाता है। जिनकल्पी मुनि का अभ्यास तो बहुत अधिक कठिन है। साधना की वह भूमिका है, जिसमें छह माह तक आहार-पानी न मिले तो भी उसे सहन किया जाता है। इतना कठिन अभ्यास एक जिनकल्प की साधना करने वाले व्यक्ति को करना होता है। एक सामान्य व्यक्ति के लिए यह निर्देश दिया गया—एक दिन आहार न मिले तो वह सहन करे। यह अभ्यास सबको होना चाहिए।

विकास का सूत्र

समस्या को भेलना बड़ा मुश्किल है। उसके तीन विघ्न हैं—आलस्य, प्रमाद और सुविधावादी मनोवृत्ति। जब व्यक्ति कष्ट सहना नहीं चाहता, काम करना नहीं चाहता, तब समस्या उलझती है। जो आरामतलब है, वह कठिनाइयों को भेल नहीं सकता। जो व्यक्ति कठिनाइयों को भेलना जानता है, समस्या के आने पर घुटने नहीं टेकता, बही व्यक्ति सफल हो सकता है। यह अध्यात्म की साधना का सूत्र है, व्यवहार की साधना का सूत्र है। जिसके जीवन में यह सूत्र अवतरित हो जाता है, उसका जीवन विकास का जीवन बन जाता है।

बेहे दुक्खं महाफलं यह विकास का सूत्र है। हम इसका अभ्यास करें, साधना करें। चाहे एक साथ न सधे, धीरे-धीरे सधें। यह सहिष्णुता की साधना का सूत्र है। हम इस सूत्र पर मनन करें, धृति, मनोबल और पराक्रम का विकास करें, समस्या संकुल युग में प्रसन्नता का सूत्र उपलब्ध हो जाएगा।

इन्द्रिय-संयम

संभिन्नस्रोतोलब्धि

काम एक है और रूप अनेक । एक ही काम के अनेक रूप बन जाते हैं । मनुष्य के पांच इन्द्रियां हैं । वास्तव में इन्द्रिय एक ही है । जब संभिन्न-स्रोतोलब्धि का विकास होता है, तब हमारी यथार्थ स्थिति बनती है । उस समय केवल एक इन्द्रिय रह जाती है । एक इन्द्रिय से हम जो चाहें, काम ले लें । शरीर के किसी भी हिस्से से हम देख सकते हैं, सुन सकते हैं । एक ही इन्द्रिय है स्पर्शनेन्द्रिय । वह पूरे शरीर में व्याप्त है । शेष इन्द्रियों के अलग-अलग स्थान हैं । मनुष्य ने संकल्पशक्ति का विकास किया, देखना चाहा और चक्षु इन्द्रिय विकसित हो गया । जिस स्थान पर संकल्प अधिक केन्द्रित हुआ, वह विद्युत् चुंबकीय क्षेत्र बन गया । उसका त्रिस्टीलीकरण हो गया, वहां से दीखना शुरू हो गया, वह आंख बन गई । जिससे सुनना शुरू हो गया, वह कान बन गया किन्तु मूल स्थिति या विकास की स्थिति में जाएं तो इन्द्रिय एक बन जाती है । उसको एक विशेषता माना गया और उसका नाम रखा गया—संभिन्नस्रोतोलब्धि । जो अलग-अलग स्रोत थे, वे परिपूर्ण होकर एक स्रोत बन गया, अखंड बन गया । यह इन्द्रिय मीमांसा है । धर्म की विशेषता

एक प्रश्न है संयम का । यदि पूछा जाए—धर्म की सबसे बड़ी विशेषता कौन-सी है, जो पदार्थ विज्ञान में नहीं है । इसका उत्तर होगा—धर्म ने चेतना की शक्ति को पहचाना है किन्तु पदार्थ विज्ञान ने चेतना की शक्ति को नहीं पहचाना । पदार्थ विज्ञान ने मुख्यतः पदार्थ की शक्ति को ही पहचाना है । धर्म ने चेतना की शक्ति को पहचाना है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है संयम या परिष्कार । जैसे-जैसे चेतना का विकास होता है वैसे-वैसे शक्ति का विकास होता है । चेतना का सर्वाधिक विकास मनुष्य में हुआ है । इसका अर्थ है—मनुष्य में संयम और नियंत्रण की शक्ति का, परिष्कार की शक्ति का भी सर्वाधिक विकास हुआ है ।

शक्ति और संयम

संसार के सभी प्राणियों में शक्ति है पर संयम और नियंत्रण की शक्ति नहीं है । एकेन्द्रिय से लेकर पशु-पक्षी तक में नियंत्रण की शक्ति नहीं

है। यह अवश्य है—वे प्रकृति का अतिक्रमण नहीं करते किन्तु प्रकृति का परिवर्तन भी नहीं करते। परिवर्तन की क्षमता उनमें भी नहीं है। पशु ने कभी संकल्प नहीं किया—मुझे ऐसा बनना है। यदि उसमें संकल्पशक्ति विकसित रहती तो पशु आदमी बन जाता। एक आदमी को क्रोध आता है, उसमें क्रोध का नियंत्रण करने की क्षमता भी है किन्तु एक पशु में यह क्षमता नहीं है। उसका क्षयोपशम बहुत कमजोर होता है। मनुष्य क्रोध का उप-शमन कर लेता है। दमन, उदात्तीकरण और रेचन—ये सारी वृत्तियाँ मानवीय मस्तिष्क में ही होती हैं इसलिए मनोविज्ञान मनुष्य का अध्ययन ज्यादा करता है।

मनुष्य की मौलिक विशेषता

भावों का नियमन करना या 'मुझे ऐसा बनना है', यह संकल्प करना मनुष्य की अपनी मौलिक विशेषता है। इसी आधार पर शेष सारे प्राणी मनुष्य से अलग-थलग हो जाते हैं। हम मानते हैं—देवता में बहुत शक्ति होती है। यदि उनसे इन्द्रियों के संयम के लिए कहा जाए तो क्या वे ऐसा कर पाएंगे? देवता यह नहीं कर पाते। इन्द्रिय, काम-वासना, लोभ—इन पर नियंत्रण की शक्ति मनुष्य के पास है। यह शक्ति और किसी के पास नहीं है। मनुष्य ने इस शक्ति का विकास किया है और इस शक्ति को पहचाना है धर्म ने। उसने कहा—तुम्हारे भीतर ऐसी शक्ति है, जिससे तुम कामनाओं का परिष्कार कर सकते हो। इसीलिए धर्म दुनिया का सबसे बड़ा तत्त्व बन गया।

जब इन्द्रिय-संयम घटित होता है तब व्यक्ति प्रिय और अप्रिय—दोनों प्रकार की स्थितियों का सहन कर लेता है। मुनि के लिए कहा गया—कानों के लिए सुखकर शब्दों से प्रेम न करे। दारुण और कर्कश स्पर्श को भी सहन करे। जो दोनों स्थितियों में सम रहता है, वह इन्द्रिय संयम को साध लेता है—

कण्ण सोवखोहि सद्देहि, पेमं नाभिनिवेसए ।

दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥

पुरुषार्थ चतुष्टयी

चार पुरुषार्थ हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन चारों में धर्म को प्रधानता दी गई क्योंकि उसने मनुष्य को अपनी शक्ति से परिचित करा दिया। यदि धर्म न हो तो पदार्थ की शक्ति जागती जाएगी, चेतना की शक्ति सोती चली जाएगी। एक दिन ऐसा आएगा—आत्मा बिलकुल सो जाएगी और मनुष्य रोएगा। व्यावहारिक जगत् में काम की भी एक सीमा

है, अर्थ की भी एक सीमा है।

वैदिक साहित्य में पुरुषार्थ चतुष्टयी का जो विश्लेषण हुआ है, उसमें बहुत सुन्दर समीक्षा की गई है—वह काम, जो अर्थ को बाधित न करे। वह अर्थ, जो काम को बाधित न करे। धर्म काम और अर्थ को बाधित न करे। अर्थ और काम धर्म को बाधित न करे। ये परस्पर अबाधित हों, बाधा पैदा करने वाले न हों। पुरुषार्थ चतुष्टयी में यह वैदिक व्यवहार है।

कामो न बाधते योऽर्थं, सोऽर्थः कामं न बाधते ।

धर्मं न बाधते तौ च, धर्मश्च तौ न बाधते ॥

न बाधां जनयन्त्येते, परस्परमबाधिताः ।

वैदिको व्यवहारोऽयं, पुरुषार्थचतुष्टये ॥

चिन्तन की भिन्नता

कहा गया—काम उतना होना चाहिए, जो अर्थ को बाधित न करे। उतना काम न हो कि व्यक्ति अर्थ का अर्जन ही न कर सके। इस स्थिति में जीवन भटक जाएगा, खाने को रोटी ही नहीं मिलेगी। अर्थ की भी सीमा कर दी गई—अर्थ का इतना अर्जन न करें, जो काम को बाधित करे। काम और अर्थ की सीमा यह है कि वे धर्म को बाधित न करें। धर्म की सीमा यह है—वह अर्थ और काम को बाधित न करे। एक व्यवस्थित संतुलन बताया गया। किसी भी प्रवृत्ति का अतिक्रमण न हो, अतिचार न हो, उनमें संतुलन बना रहे।

हम इस बात पर जैन दृष्टिकोण से विचार करें। उसके अनुसार काम और अर्थ की सीमा है, जो मानसिक सुख को बाधित न करे, भावात्मक सुख को बाधित न करे। यह संयम से अनुप्राणित चिन्तन है। वैदिक दर्शन में सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से सोचा गया। जैन दर्शन में त्याग और वैराग्य की दृष्टि से सोचा गया। वैदिक-दर्शन के केन्द्र में रहा समाज और गृहस्थ धर्म। जैन चिन्तन के केन्द्र में है मोक्ष और संन्यास। वैदिक और जैन चिन्तन में यह अंतर रहा है इसीलिए उनके दृष्टिकोण में कुछ भिन्नता मिलती है।

जरूरी है संयम

त्याग और संयम की शक्ति का विकास बहुत जरूरी है। जिस समाज में संयम और त्याग की शक्ति नहीं होती, उस समाज में असंतोष और अनियंत्रण की वृद्धि होती चली जाएगी। इतनी भोग-लिप्सा और विलासिता बढ़ जाएगी, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। आदमी कहां चला जाएगा, यह सोचा भी नहीं जा सकेगा। धर्म और अध्यात्म के बिना इन

पर नियंत्रण नहीं हो सकता। उसके बिना मनुष्य को यह बोध नहीं होता कि मुझे अपना परिष्कार करना है। हम मार्कोस दंपती की घटना को लें। उन्होंने कितना विलासिता का जीवन जीया। उनके पास जूतों की इतनी जोड़ियां थी कि नौ वर्ष तक उन्हें बदल बदल कर पहना जाए तो भी किसी का दुबारा नम्बर न आए। लोग कहते हैं—धर्म की क्या जरूरत है? साम्यवाद आएगा तो धरती पर स्वर्ग उतर आएगा। क्या यह सम्भव बना ?

इन्द्रिय-संयम की बात जुड़े

धर्म के बिना, संयम शक्ति या नियंत्रण रहे बिना मनुष्य कहां तक चला जाता है, इसका एक निदर्शन है मार्कोस दम्पती। इसका दूसरा निदर्शन है पनामा के राष्ट्रपति जनरल नोरिंगो। उसे कुछ वर्ष पहले अपदस्थ किया गया। उसकी विलासिता भी चरम सीमा को पार कर गई। उसने पांच अरब डालर की संपत्ति इकट्ठी कर ली। न जाने वह कितना ऐश्यास और अपराधी वृत्ति का था। यह सारा क्यों होता है? इन्द्रिय का संयम धर्म के बिना नहीं आ सकता। हमने धर्म को भुला दिया और समाज व्यवस्था को सब कुछ मान लिया। अगर समाज में दण्डशक्ति और विलासिता इतनी नहीं होती तो इतना अनर्थ कभी नहीं होता। इन्द्रिय-संयम की बात समाज व्यवस्था और राजनीति के साथ जोड़ी नहीं गई इसीलिए यह सब हुआ। धर्म ने नियंत्रण की शक्ति के ऐसे तत्त्व का विकास किया, जो समाज और राजनीति के लिए बहुत उपयोगी है पर उस तत्त्व को स्वार्थी लोगों ने समझा नहीं अथवा उसे जानबूझकर अनदेखा कर दिया। यदि उस शक्ति के तत्त्व को समझा जाता तो समाज में विषमता का इतना जहर कभी नहीं फेलता।

इन्द्रिय-संयम का मूल्य आंके

हम इस सचार्ई को समझें—जब तक संयम या परिष्कार की बात नहीं आएगी तब तक ऐसी स्थितियां पैदा होती रहेंगी। संयम की शक्ति को पहचाना जाए, उसका प्रचार किया जाए तो इस समस्या को समाधान मिलेगा। कौटिल्य ने लिखा—‘जो शासक बनता है और इन्द्रिय का संयम नहीं करता है, वह प्रजा का नाश कर देता है।’ यदि परिष्कार की बात नहीं आएगी तो मार्कोस और चाऊशेस्कुओं की शृंखला बढ़ती चली जाएगी। कभी भी भ्रष्टाचार और गड़बड़ियों को रोका नहीं जा सकेगा। इन्द्रिय-संयम की बात को जोड़े बिना परिष्कार की बात सफल नहीं हो सकती। इन्द्रिय-असंयम और लोभ की वृत्ति इतनी बलवान् है कि आदमी नियंत्रण रख नहीं सकता। हम इन्द्रिय-संयम का मूल्य समझें। धर्म और संयम कितना

जरूरी है, इसका मूल्यांकन करे। महावीर की सबसे बड़ी देन है संयम। संयम को समझना महावीर को समझना है, समस्या और समाधान को समझना है। हम अपने जीवन में संयम का प्रयोग करें, समाज को संयम का महत्त्व समझाएं। यदि संयम नहीं रहा तो समस्या कभी नहीं सुलझेगी। इस सचाई को समझकर ही समाधान की दिशा को उपलब्ध किया जा सकता है।

श्रद्धा घनीभूत कैसे रहे ?

मनुष्य का मस्तिष्क भानुमति का पिटारा है। उसमें इतनी चीजें भरी हैं कि आदमी क्या-क्या करे। उसमें बुद्धि है, सोचने की क्षमता है, श्रद्धा का केन्द्र है, सत्य की खोज का प्रयत्न है। और भी बहुत कुछ भरा है मस्तिष्क में। प्रत्येक आदमी सफल होना चाहता है। सफल वही होगा, जिसने मस्तिष्क को समझने का प्रयत्न किया है। अपने जीवन में वही सफल हुआ है, जिसने उस पिटारी को खोला है, उसमें से कुछ निकालने का प्रयत्न किया है। जिसने अपने मस्तिष्क पर ध्यान नहीं दिया, वह कभी सफल नहीं हो सकता।

सफलता की कुञ्जी

मानव मस्तिष्क में सफलता की सारी कुञ्जियां भरी पड़ी हैं। उन कुञ्जियों में एक कुञ्जी है श्रद्धा। उसमें बाधा क्या है? यह एक प्रश्न है। बुद्धि उसमें बाधा नहीं डालती है। बहुत लोग मानते हैं—जहां बुद्धि प्रबल है वहां श्रद्धा नहीं पनपती। यह एक भ्रम है, सचाई नहीं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक और बुद्धिमान् भी बहुत श्रद्धालु होते हैं। आईस्टीन को दुनिया का प्रथम कोटि का वैज्ञानिक कहा जाता है। वह प्रथम कोटि का श्रद्धालु भी था। प्राचीन भारतीय इतिहास को देखें। जितने महान् मनीषी आचार्य और ऋषि हुए हैं, वे अत्यन्त श्रद्धाशील हुए हैं। कहना यह चाहिए—विचारों का माया-जाल श्रद्धा को कमजोर बनाता है। विचार और श्रद्धा में तादात्म्य नहीं है। जहां वैचारिक उलझनें ज्यादा आ जाती हैं वहां श्रद्धा कमजोर हो जाती है। विचार का काम आगे बढ़ाना भी है, पैरों में जंजीरें डालना भी है।

बीमारी है ज्यादा सोचना

बहुत जटिल है विचार का कार्य। यदि हम बहुत सोचें, तो विकास में बाधा आ जाएगी। सोचना जरूरी है किन्तु बहुत सोचना जरूरी नहीं है। जो लोग बहुत सोचते हैं, उनका दिमाग सदा भारी रहता है। ज्यादा सोचना भी एक बीमारी है। विचार हमारा अस्तित्व नहीं है। वह ओढ़ा हुआ कपड़ा है, उधार लिया हुआ धन या पूंजी है। उधार की पूंजी से ज्यादा काम करें तो व्यापार में भी खतरा हो सकता है। उसको ऋण मानकर कभी-

थोड़ा सा सहारा लिया जा सकता है। अपना अस्तित्व है बुद्धि। उसका काम है निश्चय करना, व्यवसाय करना। विवेक बुद्धि का ही एक पर्याय है। विवेचन करना, पृथक्करण और निर्धारण करना—इन सबका स्रोत है बुद्धि।

ज्ञान और श्रद्धा

हम बुद्धि से काम लें, फिर हमारी श्रद्धा घनीभूत होगी। अज्ञान में कभी श्रद्धा नहीं होती। अज्ञान में उपजी श्रद्धा भ्रम है। पहले ज्ञान फिर श्रद्धा—क्रम यही है। पहले श्रद्धा और फिर ज्ञान, यह कभी नहीं होता। ज्ञान के बाद श्रद्धा और फिर श्रद्धा के बाद ज्ञान—यह चक्र चलता है। ज्ञान अधिक होगा तो श्रद्धा भी अधिक हो जाएगी किन्तु ज्ञान के बिना कभी श्रद्धा पैदा नहीं होती। यदि ज्ञान के बिना श्रद्धा पैदा होती तो एक भैंस भी श्रद्धालु बन जाती; घोड़ा और गधा भी श्रद्धालु बन जाता किन्तु ऐसा होता नहीं है।

श्रद्धा है घनीभूत इच्छा

श्रद्धा—आस्था हमारा एक अनुबंध है। जो चीज हमारे लिए उपयोगी, लाभदायी और हितकारी होती है, उसके प्रति हमारा आकर्षण पैदा हो जाता है। आकर्षण पैदा हुआ और श्रद्धा जाग गई। घनीभूत इच्छा या घनीभूत आकर्षण, इसका मतलब है श्रद्धा। पहले हम जानते हैं, फिर श्रद्धा पैदा होती है। विचार श्रद्धा में बाधा भी डालता है, सहयोग भी करता है। विचार की खटिया के इतने पाए हैं, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती। मैंने देखा—बहुत सारे लोग धार्मिक श्रद्धा से विचलित हो गए। उन्होंने कहा—अब साम्यवाद आने वाला है, सारे धर्म समाप्त हो जाएंगे। साम्यवाद की ऐसी लहर चली, हजारों-हजारों भारतीय उसके प्रति श्रद्धाशील बन गए। जब साम्यवाद अस्तित्व में आया, लोगों ने कहा—महाराज ! अब धर्म-कर्म थोड़े दिनों का है। ऐसा समय आने वाला है, जब धर्म का कोई नाम लेना भी नहीं रहेगा।

धर्म की स्वीकृति क्यों ?

दिल्ली में आचार्यश्री से विचारकों ने पूछा—आचार्यश्री ! क्या साम्यवाद आएगा ? आचार्यश्री ने दो टूक भाषा में कहा—यदि आप बुलाएंगे तो अवश्य आएगा। सबके मन में एक आंदोलन था—साम्यवाद का न जाने क्या परिणाम आएगा ? मार्क्स और एंजेन्स ने यह स्पष्ट घोषणा की थी—धर्म भय के कारण होता है। धर्म न करने वाला नरक में जाता है। यहां से परलोक जाना होगा। ईश्वर के दरबार में पूछा जाएगा तो क्या उत्तर देगा ? ऐसा भय समाज में बिठा दिया गया, इस भय के कारण धर्म की

स्वीकृति हो रही है।

यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है—इस शताब्दी के दो चार व्यक्तियों ने मानवीय चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड—ऐसे व्यक्तित्व हुए हैं, जिनसे युग का चिन्तन प्रभावित हुआ है। अनेक लोगों के विचार डगमगा गए, श्रद्धा विचलित हो गई। ये वैचारिक द्वन्द्व और दार्शनिक अवधारणाएँ सचमुच व्यक्ति को हिला देती हैं, उसकी श्रद्धा को प्रकंपित कर देती हैं।

धर्म का स्रोत है अभय

एक ओर मय के कारण धर्म-स्वीकृति की बात कही गई, दूसरी ओर महावीर कहते हैं—धर्म का आदि सूत्र है अभय। अहिंसा के सिद्धान्त के साथ अभय का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। अगर अभय की ऊर्वरा नहीं है तो अहिंसा का बीज बोया नहीं जा सकता। अहिंसा का बीज बोना है तो अभय की ऊर्वरा को तैयार करना पड़ेगा। महावीर का पहला सूत्र था—डरो मत। न रोग से डरो, न बुढ़ापे और मौत से डरो, न भूत और बेताल से डरो। इस स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है—धर्म की प्रेरणा भय के कारण होती है। वास्तव में धर्म का सबसे बड़ा स्रोत है अभय। जिस व्यक्ति के मन में अभय की चेतना नहीं जागी, वह कैसा धार्मिक होगा ?

एकपक्षीय है विचार

हम किसी विचार को समग्र न मानें। विचार गलत होता है, हम यह न मानें पर वह एकपक्षीय होता है, यह अवश्य माना जा सकता है। महावीर ने अनेकान्त के संदर्भ में कहा—विचार एक पक्ष है। उसे समग्र मानकर अटक जाओगे तो भटक जाओगे। हम किसी विचार को समग्र या परिपूर्ण न मानें। धर्म का विचार है या और कोई विचार है, किसी भी प्रकार के विचार को समग्र न मानें। कोई भी विचार परिपूर्ण नहीं होता। विचार का अर्थ है एक कोण। वही विचार भटकाता है, जो एक को समग्र मान लिए जाने का चिन्तन देता है। हम खण्ड को खण्ड मानें तो भटकाव नहीं होगा।

अनेकान्त और श्रद्धा

शंकराचार्य ने कहा—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस विचार की जैनाचार्यों ने बड़ी आलोचना की है। यदि नय दृष्टि से विचार करें तो कहा जा सकता है—जगत् मिथ्या ही है। जब पर्याय था तब सत्य था। जब पर्याय बदल जाता है तब मिथ्या हो जाता है। विचार सापेक्ष होता है। जब हम अपेक्षा-भेद को भुला देते हैं तब समस्या उलभ जाती है।

जब सत्य के प्रति निष्ठा जागती है तब श्रद्धा प्रबल होती है। श्रद्धा

तब जागती है जब विचार या दृष्टिकोण साफ होता है। यह एक तथ्य है— अनेकान्त को समझे बिना हमारी श्रद्धा कभी गहरी नहीं होगी। अनेकान्त से ही हमारी श्रद्धा गहरी और घनीभूत होती है। किसी ने गाली दी, कटु वचन कहा, वह एक कोण है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम दूसरे कोणों को मुला दें। यह चिन्तन श्रद्धा को घनीभूत रखने का बहुत बड़ा सूत्र है।

श्रद्धा अखण्ड रहे

हम विचारों की दुनिया में न उलझें। एक विचार को समग्र या अखण्ड मानकर न चलें। यदि हम विचार की चपेट में चले गए तो हमारी श्रद्धा बाधित हो जाएगी। यह विचार और श्रद्धा का द्वन्द्व है। हम विचारों से इतने प्रभावित न हो कि हमारी श्रद्धा खण्डित हो जाए। आगम का वचन है—जिस विचार और श्रद्धा के साथ अभिनिष्क्रमण किया है, उसका अनुपालन करना है। उसी विचार और श्रद्धा पर टिके रहना है। श्रद्धा अपने आप घनीभूत होती चली जाएगी—

जाए सद्भाए निष्खंतो, परियायट्टाणमुत्तमं ।

तमेव अणुपालेज्जा, गुणे भायरिय सम्मए ॥

इस स्वीकृत श्रद्धा को आधार मानकर जो व्यक्ति चलेगा, वह सचमुच सत्य के निकट पहुंचेगा और सत्य का दर्शन ही श्रद्धा को घनीभूत बना जाएगा।

युवाचार्य महाप्रज्ञ की महत्त्वपूर्ण रचनाएं

- भिक्षु विचार दर्शन
- जीव अजीव
- जैन परम्परा का इतिहास
- अनेकान्त है तीसरा नेत्र (हिन्दी, गुजराती)
- मन का कायाकल्प
- संबोधि (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी)
- मैं कुछ होना चाहता हूँ
- जीवन विज्ञान (शिक्षा का नया आयाम)
(हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला)
- जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प
- कैसे सोचें ?
- आहार और अध्यात्म
- श्रमण महावीर (हिन्दी, अंग्रेजी)
- अवचेतन मन से सम्पर्क
- उत्तरदायी कौन ?
- जीवन की पोथी
- सोया मन जग जाये
- अहिंसा के अछूते पहलू
- अमूर्त चिन्तन (हिन्दी, गुजराती)
- अस्तित्व और अहिंसा
- तेरापंथ शासन अनुशासन
- अभ्युदय
- चित्त और मन (हिन्दी, गुजराती)
- जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं
- जैन दर्शन और संस्कृति
- संस्कृति के दो प्रवाह
- समयसार (निश्चय और व्यवहार की यात्रा)
- भेद में छिपा अभेद
- समाज व्यवस्था के सूत्र
- नवतत्व : आधुनिक संदर्भ
- ऋषभ और महावीर
- अपना दर्पण : अपना बिम्ब
- तेरापंथ
- आचार्य भिक्षु : जीवन-दर्शन
- अप्पाणं सरणं गच्छामि
- धर्म चक्र का प्रवर्तन
- आलोक प्रज्ञा का

● प्रेक्षाभ्यास : सिद्धान्त और प्रयोग

